पद्म-पुष्प की अमर सौरभ

लेखक
श्री सुयश मुनि 'सौरभ'

प्रकाशक
पद्म प्रकाशन
नरेला मण्डी, दिल्ली

उत्तर भारतीय प्रवर्तक गुरुदेव भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज की
६४वीं दीक्षा जयन्ती के पावन प्रसंग पर

❋ पद्म-पुष्प की अमर सौरभ

❋ लेखक
श्री सुयश मुनि 'सौरभ'

❋ प्रथमावृत्ति
वि. सं. २०५३ पौष
पार्श्व जयन्ती

❋ प्रकाशक
पद्म प्रकाशन
पद्मधाम, नरेला मण्डी
दिल्ली-११० ०४०

❋ लागत मूल्य :
मात्र साठ रुपया

❋ मुद्रण
दिवाकर प्रकाशन
ए-७, अवागढ़ हाउस, एम. जी रोड
आगरा-२८२ ००२
दूरभाष : (०५६२) ३५११६५

समर्पण

संयम-सत्य-सेवा-सरलता की
सात्त्विक साधना से जिन्होंने जीवन को
कृतार्थ बनाया है, उन परम पूज्य श्रद्धेय
दादा गुरुदेव उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक भण्डारी
श्री पद्मचन्द्र जी महाराज
तथा मेरे दीक्षा-शिक्षा प्रदाता गुरुदेव
वाणी भूषण, प्रवचन केसरी उपप्रवर्त्तक
श्री अमर मुनि जी महाराज
के पावन कर-कमलों में
सविनय-समर्पित

—सुयश मुनि 'सौरभ'

प्रकाशकीय

शास्त्रों में मनुष्य-जीवन की महिमा का खूब बखान किया गया है। इस जीवन को देवताओं के लिए दुर्लभ व संसार में सर्वोत्तम श्रेष्ठ माना है। मानव-जीवन की श्रेष्ठता का कारण यह है कि मानव एक विवेकशील पुरुषार्थी प्राणी है। वह अपने विवेक से धर्म की पहचान करता है और पुरुषार्थ द्वारा धर्म को जीवन में उतारकर आत्मा में सुप्त परमात्मा को जगा सकता है।

मानव-जीवन को सफल और सार्थक बनाने के जो महान् साधन माने गये हैं उनमें से छह मुख्य साधनों पर इस पुस्तक में विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के शिष्यरत्न जैन आगमों व जैन साहित्य विद्वान् उपप्रवर्त्तक श्री अमर मुनि जी महाराज के मार्गदर्शन एवं सुयोग्य के नेतृत्व में उनके सुशिष्य श्री सुयश मुनि जी 'सौरभ' ने उन छह कारणों पर बहुत ही सुन्दर शैली में रोचक वर्णन किया है। मुनिश्री की शैली इतनी रोचक है कि पढ़ने वालों को इसमें शोध निवन्ध, ललित निबन्ध, प्रवचन और उपन्यास जैसा अनेक रस मिश्रित स्वाद आयेगा और पढ़ने वाला उकतायेगा नहीं, यही तो सफल लेखन की विशेषता है। गुरुदेव श्री अमर मुनि जी महाराज की प्रेरणा से उनके शिष्य लेखन, प्रवचन, गायन आदि कलाओं में निष्णात होकर साहित्य क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं। यह हम सबके लिए प्रसन्नता और गौरव की बात है। हम चाहते हैं हमारी संस्था जहाँ सचित्र आगम-प्रकाशन की योजना में एक नया कीर्तिमान स्थापित कर रही है वहीं पर इस प्रकार का रुचिकर और सर्व साधारण जन-उपयोगी साहित्य भी प्रकाशित कर रही है जिससे सभी पाठक लाभ उठायेंगे।

इस प्रकाशन में उदारतापूर्वक सहयोग देने वाले गुरुभक्त बंधुओं को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

अध्यक्ष
पद्म प्रकाशन
नरेला मण्डी, दिल्ली

समर्पण

उत्तरभारतीय प्रवर्त्तक

परम श्रद्धेय गुरुदेव भण्डारी

श्री पद्मचन्द्रजी म.

को





विनीत

गुरुदेव का चरण सेवक

मुनि सुयश

अपनी बात

चतुर्थ गणधर और भगवान महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा ने भगवान की भाव-भीनी स्तुति करते हुए कहा है--

"पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।"

फूलों में जैसे अरविंद अर्थात् श्वेत कमल श्रेष्ठ होता है, वैसे ही समस्त जगत् में भगवान महावीर श्रेष्ठ व सर्वोत्तम हैं। कमल पुष्प को 'पद्म' भी कहते हैं। कमल जल में, कीचड़ में पैदा होता है, परन्तु कभी कीचड़ में लिप्त नहीं होता, हमेशा ही पानी के ऊपर ही तैरता दिखाई देता है। कमल की सुन्दरता, उसकी कोमलता, सुषमा और भीनी-भीनी मीठी सुगन्ध भँवरों व मनुष्यों को ही आकर्षित नहीं करती, अपितु ऋषि, महर्षि और देवताओं को भी मुग्ध कर लेती है। कमल--पद्म सबको प्रिय है और उसकी प्रियता का कारण है उसकी कुछ खास विशेषताएँ, जैसे--निर्लिप्तता, कोमलता और सदा सुगन्ध बिखेरते रहना। कमल सुन्दर होना और सुगन्ध नहीं होती तो न तो उसके पास भँवरे जाते, न कविजन उसकी महिमा गाते और न ही देवता, राजा-महाराजा, ऋषि-महर्षि उसके लिए लालायित होते। पद्म-पुष्प की विशेषता, गुणवत्ता या श्रेष्ठता का कारण है उसकी सुगन्ध, सुरुचि, पराग व परिमल। पद्म शरीर से हमारे शरीर की भाँति नाशवान् है, किन्तु उसकी सुरभि मिट्टी में मिलकर भी दूर-दूर तक व्याप्त रहती है, इसलिए सुरभि को 'अमर' भी कहा जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम है--'पद्म-पुष्प की अमर सौरभ'। यह कोई महज साहित्यिक अलंकार--यमक-श्लेष का चमत्कार मात्र नहीं है। किन्तु बहुत ही सोच-समझकर यथार्थ की अभिव्यक्ति लिए एक पारदर्शी सत्य है। जीवन और जगत् का गहरा तथ्य है और इसके साथ जुड़ा है कथ्य--लेखक की चिन्तनशीलता का।

पद्म प्रतीक है--मनुष्य-जीवन का। यह मानव-जीवन पद्म जैसा सुन्दर, कोमल और सुषमामय तो है ही, किन्तु पद्म की तरह नाशवान् भी है। इस जीवन में

सद्गुण रूपी सुगन्ध सुरभि महक रही हो तो इस जीवन का चिरकालिक महत्त्व है। इसकी शाश्वत महिमा है।

"जिस गुल में बू नहीं, वह कागज का फूल है।"

सुगन्धहीन फूल का कोई महत्त्व नहीं, इसी प्रकार गुणविहीन, शरीर का, सद्गुणरहित मानव-जीवन का भी कोई महत्त्व नहीं है। पद्म की महत्ता उसकी सौरभ में है। इसी प्रकार जीवन की महत्ता उसके सद्गुणों में है।

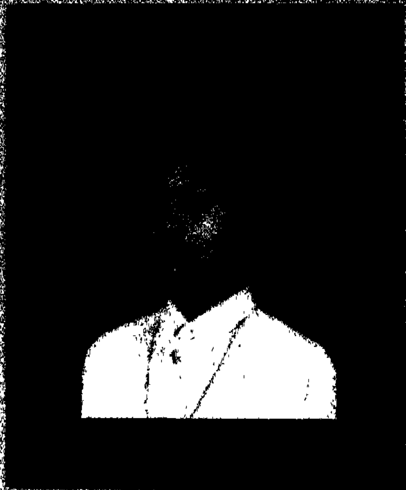
इसी द्वयर्थक–दुहरे अर्थ को अभिव्यक्ति देने वाला यह शीर्षक प्रतीकात्मक भी है और अपने आप में सार्थक भी है। 'पद्म' का पावन पवित्र सम्बोधन है मेरे पूज्य प्रवर्त्तक दादा गुरुदेवश्री के लिए। उनका नाम ही पद्म नहीं, उनका जीवन भी पद्म की तरह निर्लेप-निरासक्त-पवित्र और सद्गुणों की सौरभ से महकता हुआ पद्म है। गुरुदेवश्री के सुयोग्य शिष्यरत्न मेरे गुरुदेव श्री अमर मुनि जी ने गुरुदेव के जीवन से जो समता-शुचिता-संयम-सेवा-साधना आदि सद्गुणों की अमर सौरभ प्राप्त की है, वह सौरभ आज समूचे जैन समाज का मन मोहित कर रही है। बल्कि पूरे मानव-समाज के जीवन को अपनी अमर सौरभ से प्रफुल्लित–प्रमुदित कर रही है। इस पुस्तक में प्रतीकार्थ दो महापुरुषों के नाम जुड़ जाने से पुस्तक अपने आप में ही महत्त्वपूर्ण हो गई है। जैसे सोने की अँगूठी में मूल्यवान मणि जड़ जाने से अँगूठी का महत्त्व सौ गुना बढ़ जाता है।

दूसरा प्रतीकार्थ सहज है ही। मानव-जीवनरूपी पद्म में सद्गुणों की अमर सौरभ रूप हैं–छह सद्गुण।

"जिनेन्द्र पूजा गुरुपर्युपास्ति, सत्वानुकम्पा शुभपात्र दानम्।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य, नृ-जन्म वृक्षस्य फलान्यमूनि॥"

–आचार्य श्री सोमप्रभसूरि

मानव-जीवन एक कल्पवृक्ष है। इसके छह महान् अमृत फल हैं–(१) जिनेन्द्र-पूजा, (२) गुरुसेवा, (३) जीवदया, (४) सुपात्रदान, (५) गुणानुराग दृष्टि, और (६) शास्त्र सुनने में रुचि। ये छह सद्गुण इस जीवन वृक्ष के मधुर फल हैं। इन फलों से ही इस वृक्ष की शोभा है। पद्म की शोभा उसकी परिमल है, वृक्ष की शोभा उसके फल हैं, नदी की शोभा उसका मधुर जल है और वीर की शोभा उसका बाहुबल है। इसी प्रकार मानव-जीवन रूप पद्म की शोभा हैं ये छह सद्गुण।



❋ प्रकाशन में अर्थ सौजन्य ❋

वैरागी वरुण कुमार जैन

सुपुत्र, श्री विजयकुमार जैन, श्रीमती कान्तारानी जैन

(फतेहाबाद) निवास-पश्चिम विहार, दिल्ली

मैंने प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं छह गुणों पर अपनी रुचि, बुद्धि, कल्पना, अध्ययन और भावना के अनुसार कुछ विवेचन किया है और यह प्रेरणा दी है कि मनुष्य इन छह सद्गुणों को जीवन में उतारेगा तो निश्चित ही वह अपने जीवन को सफल एवं सार्थक बना सकेगा।

लेखन का मेरा यह प्रथम प्रयास है। पूज्य गुरुदेव उत्तर भारतीय प्रवर्त्तक भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज तथा उपप्रवर्त्तक गुरुदेव श्री अमर मुनि जी महाराज के आशीर्वाद, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से मैंने स्वाध्याय, अध्ययन अनुशीलन/परिशीलन के आधार पर इन छहों गुणों को केन्द्र में रखकर विवेचन किया है। जिन लेखकों की पुस्तकों से मुझे सहयोग प्राप्त हुआ मैं उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ। जैसे हंस सरोवर में से मुक्ता चुन लेता है, भँवरा फूलों से रस ग्रहण कर लेता है और बिलोने वाली गोप वधू दही को मथकर उससे मक्खन प्राप्त कर लेती है, वैसे ही मेरे पाठक इस पुस्तक को पढ़कर जो सुन्दर, शिक्षाप्रद और जीवन में उपयोगी लगे उसे ग्रहण करें, यदि कोई बात असंगत व अप्रिय लगे तो उसे मेरी अल्पज्ञता समझकर छोड़ देवें और संशोधन करने के लिए मुझे सूचना देवें, मैं उनका कृतज्ञ रहूँगा।

–सुयश मुनि 'सौरभ'

ऋषभ विहार

११-११-९६

दीपमालिका

पुरोवचन

–रमेश मुनि शास्त्री

पद्म-फूल और उसकी सुगन्ध, सुगन्ध और पद्म-फूल, ये दोनों वस्तुतः परस्पर अनुस्यूत हैं तथा एक-दूसरे से अनुप्राणित हैं, अनुप्रीणित भी हैं। इन दोनों का जो अस्तित्व है, महत्त्व है और मूल्य है, वह भी एक-दूसरे पर आधारित है और ये स्वयं की तथा अन्य की गुण-गरिमा के संवाहक भी हैं। यह पूर्णतः प्रगट है कि सुमन ही सौरभ का जनक है और सौरभ में ही सुमन की समग्र-महिमा समाहित है, सन्निहित है। प्रस्तुत दो दृश्य एवं अदृश्य तत्त्वों में मूल्यवान् एकत्व है, प्राणवान् समत्व है, तथापि इन दोनों के मध्य जो अन्तर्-रेखाएँ अंकित हैं, जो पार्थक्य स्पष्टतः आभासित होता है वह वस्तु वृत्या चिन्तनीय है, मननीय है और अधिक प्रेरक भी है। प्रसून का जीवन भला कितने दिनों का है? सुरभि के सन्दर्भ में जो सत्य है, तथ्य है, वह इससे सर्वथा भिन्नता लिए हुए है। यह मधुर सौरभ मन एवं मस्तिष्क में अपने अनुभव का अमित-आनन्द और प्रकर्ष-हर्ष सम्प्रेषित कर देती है। तब वह भोक्ता की स्मृति का अभिन्न अंग बन जाती है, अक्षुण्ण-स्थायित्व का स्वरूप भी सम्प्राप्त कर लेती है। प्रसून प्रकृत भावेन विनश्वर है, क्षण-भंगुर है और उसकी जो सौरभ है, वह स्वभावतः अमर है, अनश्वर है। यह वह सुगन्ध है, जो कुसुम की सर्वस्व है, पद्म-पुष्प से सौरभ छिन जाय, छिन्न-भिन्न भी हो जाय, ऐसी स्थिति में उसका फूल कहलाने का अधिकार भी कहाँ रह जाता है? मनुष्य और उसके सद्‌गुण का भी कुछ ऐसा ही अभिन्न सम्बन्ध है। यह यथार्थ है कि मानव मरणधर्मा है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। परन्तु उसमें अमरत्वपूर्ण तत्त्व उसका व्यक्तित्व अर्थात् गुणगरिमा है। मनुष्य ससीम है, नश्वर है, क्षर है, किन्तु उस व्यक्ति का व्यक्तित्व असीम है, उसके सद्‌गुण वस्तुतः अमर हैं, अक्षर हैं, परम व्यापक हैं और अतिशय रूप से संस्मरणीय हैं। सद्‌गुण सौरभ अपनी अनुपम गरिमा को लिए हुए है। यह वह चमत्कारपूर्ण महिमा है, जो व्यक्ति के स्तर को उन्नत करती है, उज्ज्वल करती है और उसे यथार्थता एवं आदर्शता के स्वर्णिम-शिखर पर प्रतिष्ठित कर देती है। इतना ही नहीं यह जीवन-पर्यन्त मनुष्य

के लिए प्रतिष्ठा का मौलिक आधार रहता है और उसके उपरान्त भी व्यक्तित्व अर्थात् सद्गुण उसे स्मृति-जगत् में अमर बनाये रखता है। व्यक्ति का यथार्थतः मूल्यांकन व्यक्तित्व अर्थात् गुण-गौरव को ही अपना प्रधान आधार चयनित करता है। वास्तविकता यह है कि सद्गुण-सौरभ ही मनुष्य की श्रेष्ठता और ज्येष्ठता को प्रमाणित करता है और वह सामान्य-स्तरीय जनों से ऊपर उठाकर उसके लिए विशिष्ट एवं वरिष्ठ स्थान बना देता है।

इसी सन्दर्भ में एक और तथ्य ज्ञातव्य है कि यह समूचा संसार पंक रूप है और मनुष्य पंकज की उपमा से उपमित है, अलंकृत है। इस पंकज-पुष्प की अमर, मधुर सौरभ के रूप में, जिनेन्द्र पूजा, गुरु पर्युपासना, सत्त्वानुकम्पा, शुभ पात्रदान, गुणानुराग और आगम श्रुतिराग ये सद्गुण परिदृश्यमान हैं। उक्त सद्गुणों की सौरभ वह सौरभ है, जो सर्वथा अमिट है, अमर है। गणनातीत रूप से रात और दिन, मास एवं वर्ष कालरूपी महानदी के अजस्र प्रवाह में प्रवहमान हुए। तथापि इन सद्गुणों की सौरभ विनष्ट न हो सकी। कोई भी शक्ति, उक्त गुण-गन्ध को क्षीण नहीं कर सकी। यह ध्रुव सत्य है कि ये वे सद्गुण हैं, जो मधुर सौरभ के रूप में अपनी अमरता लिए हुए हैं। अक्षुण्ण-स्वरूप निर्धारित किये हुए हैं।

मुझे प्रकर्ष हर्ष है कि आराध्य-स्वरूप प्रवर्त्तक गुरुवर्य श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के प्रशिष्य एवं प्रवचन प्रभावक उपप्रवर्त्तक श्री अमर मुनि जी महाराज के सुशिष्य श्री सुयश मुनि जी ने अपने प्रगुरु और गुरु के नाम-निक्षेप को भाव-निक्षेप के यथातथ्य के रूप में प्राण-प्रतिष्ठा की और फल-श्रुति के रूप में 'पद्म-पुष्प की अमर सौरभ' नामक कृति को संस्कृति के स्वरूप में रूपान्ति किया है। प्रज्ञामूर्ति लेखक श्री सुयश मुनि जी ने यथार्थ अर्थ में सर्वात्मना-समर्पित गुरु-भक्ति से अपने शिष्यत्व को प्रकाशमान किया है और प्रस्तुत पुस्तक में प्रतिपादित सद्गुणों की सुगन्ध को सप्राण-भाषा एवं सजीव शैली में अभिव्यक्ति दी है। मैं स्वयं इस तथ्य से विश्वस्त हूँ कि मुनिवर्य का उपक्रम एवं पराक्रम उक्त कृति के रूप में मूर्तिमान् है और यह कृति अपने नाम के अनुरूप अध्येताओं के मन-पद्म को आनन्द-विभोर कर सकेगी तथा अपनी अमर सौरभ से साहित्य-संसार चमत्कृति की अनुभूति करेगा।

लक्ष्मीनगर, दिल्ली

दिनांक १३-५-९५

अनुक्रमणिका

पद्म-पुष्प की अमर सौरभ

मानव-जीवन की सार्थकता

अनादि, अनन्त काल से यह आत्मा संसार परिभ्रमण करती चली आ रही है। विभिन्न गतियों, योनियों में दुःख व मोह के थपेड़े खाती हुई आत्मा सुख का अवसर नहीं पाती। दुःख के बन्धनों से मुक्त होने का उसे कोई उपाय नहीं मिलता। दुःखों का किनारा पाते-पाते अन्त में प्रबल पुण्य राशि के संचित होने पर उसे इस दुःखद संसार-यात्रा की परेशानी से मुक्त होने के लिए दुर्लभ अवसर प्राप्त होता है।

सभी धर्मों और दर्शनों का कथन है—मनुष्य-शरीर प्राप्त हुए बिना आत्मा को जन्म-मरण से, कर्मों से, विकारों से मुक्ति नहीं हो सकती। चौरासी लाख योनियों में मनुष्य-शरीर ही ऐसा है जिससे इतनी उच्चतम साधना हो सकती है। इस मानव-देह को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की (मनुष्यगति के सिवाय) अन्य गतियों और योनियों में अनेक प्रकार की घाटियाँ पार करनी पड़ती हैं। कभी देवलोक, कभी नरक और कभी तिर्यंचगति, कभी असुर योनियों में जीवात्मा कई जन्म-मरण धारण करता है। मनुष्य-जन्म पाकर भी यह जीवात्मा कभी क्षत्रिय, कभी शूद्र, कभी उच्च एवं नीच कुलों में धर्म-संस्काररहित जातियों में उत्पन्न होकर अबोध एवं धर्महीन ही रहता है। क्योंकि वहाँ शरीर की भूमिका से ऊपर नहीं उठ पाता है। उनमें विवेक की जागृति नहीं होती। मनुष्य में भी जब तक धर्म विवेक जाग्रत नहीं होता, धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है? भगवान महावीर ने फरमाया है—

"कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं॥"

—जब अशुभ कर्मों का भार दूर होता है, आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनती है तब कहीं वह मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है। जैन संस्कृति के अमर गायक आचार्य अमितगति ने मनुष्य-जन्म की महिमा को गाते हुए कहा है—

"नरेषु चक्री त्रिदशेषु वज्री, मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु।
मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो, भवेषु मानुष्य भवः प्रधानम्॥"

–जिस प्रकार मानव लोक में चक्रवर्ती, देवलोक में इन्द्र, पशुओं में सिंह, व्रतों में प्रशम भाव और पर्वतों में स्वर्णगिरि मेरु प्रधान है। उसी प्रकार संसार के सब जन्मों में मनुष्य-जन्म सर्वश्रेष्ठ है।

इस संसार में मनुष्य से श्रेष्ठ कोई भी नहीं है। मनुष्य-शरीर पाकर मानव ज्ञान और विवेक के सहारे मानवता के मार्ग पर बढ़ता है। जब जीवन में एक बार मानवता का फूल खिल जाता है, तब मानवता के फूल की महक से संसार का कोना-कोना सुगन्धित हो जाता है। मानवता से महकते जीवन का संसार में सर्वत्र स्वागत होता है।

"दुर्लभं भारते जन्म।"

–इस भारत-भूमि में मनुष्य का जन्म दुर्लभ है।"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में कहा–

"बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा॥"

–यह मनुष्य-जन्म बड़े पुण्योदय से प्राप्त होता है।

'विष्णु पुराण' में कहा गया है–

"गायन्ति देवा किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिः भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूमः पुरुषाः सुरत्वात्॥"

–देवलोक में बैठे हुए देवता भी गाते हैं कि धन्य हैं वे लोग जिन्होंने भारत जैसी आर्य भूमि, पवित्र भूमि, महान् भूमि में जन्म लिया है। क्योंकि आर्य भूमि से ही स्वर्ग और अपवर्ग-मोक्ष की साधना की जाती है। हम न जाने कब देव, देवता से इन्सान बनेंगे, कब हम अपने बन्धनों को तोड़कर स्वतन्त्र-मुक्त हो सकेंगे। मानव-जीवन दुर्लभ है। आगमों में श्री उत्तराध्ययनसूत्र में, बौद्धों के धम्मपद में, शंकराचार्य के विवेक चूड़ामणि में, ईसाइयों के बाइबिल में, हिन्दुओं के रामायण में तथा मुसलमानों के कुरानशरीफ में, सिक्खों के गुरुग्रन्थ साहब में, इन सभी शास्त्रों एवं ग्रन्थों में मानव-जन्म की महत्त्वपूर्ण महिमा गाई गई है। इस संसार में ८४ लाख योनियाँ हैं और उन सब में श्रेष्ठ बताई गई है, मनुष्य योनि। परन्तु जब मनुष्य-जीवन प्राप्त करके भी मनुष्यत्व ऐसे दूर रहे तो ऐसे जीवन को क्या कहा जाय?

उदाहरण–एक बार यूनान का दार्शनिक दोपहर के बारह बजे जलती लालटेन को हाथ में लेकर बाजारों में घूम रहा था। लोगों ने देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ।

क्योंकि वह आश्चर्य की बात भी थी। दोपहर में जलती लालटेन लेकर घूमने की बात किसी के समझ में न आई। एक स्थान पर दार्शनिक के चारों ओर सैकड़ों व्यक्ति एकत्रित हो गये। उन्होंने दार्शनिक से पूछा–"आप दोपहर के समय लालटेन जलाकर क्या ढूँढ़ रहे हैं?" दार्शनिक बोला–"मैं इंसान को खोज रहा हूँ।" सभी ने हँसकर कहा कि "हम तो हजारों की संख्या में आपके चारों ओर खड़े हैं। क्या हम इंसान नहीं हैं?"

दार्शनिक बोला–"नहीं, नहीं। तुम इंसान नहीं हो, इंसान की सूरत के जीव अवश्य हो। यदि तुम भी मनुष्य हो तो फिर पशु और राक्षस कौन होंगे? तुम दुनियाभर के अत्याचार करते हो, छल-प्रपंच रचते हो, भाइयों का गला काटते हो, कामवासना की पूर्ति के लिए कुत्तों की तरह मारे-मारे फिरते हो और फिर भी मनुष्य हो? क्या तुम अपने को मनुष्य समझते हो? मुझे मनुष्य चाहिए, वन-मनुष्य नहीं।"

"मनुष्य-जन्म का लाभ उठाओ। यह दुर्लभ देह बार-बार नहीं मिलती। अगर यह श्रेष्ठ भव पाकर भी तुमने धर्म के मर्म को नहीं समझा, सन्तों की वाणी को हृदयंगम नहीं किया तथा शुभ कार्य करके पुण्योपार्जन नहीं कर सके तो यह देवताओं को भी दुर्लभ मानव-पर्याय निरर्थक चली जायेगी।" भगवान महावीर स्वामी ने 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा है–

"कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीविअं, समयं गोयम ! मा पमायए॥"

–जिस प्रकार घास की नोंक पर पड़ा हुआ जलबिन्दु कुछ देर तक चमकता रहता है, किन्तु कुछ ही क्षणों में वह गिरकर मिट्टी में मिल जाता है, वैसा ही मानव-जीवन है। यह शरीर, यह आयु ऐसी चंचल है, क्षण-भंगुर है, अतः इस क्षण-भंगुर व अपवित्र शरीर से शाश्वत तथा परम धर्म की आराधना करने के लिए हम मनुष्य-जन्म के विषय पर विचार कर रहे हैं। विचारकों ने कहा है–"यह शरीर खेत है और आत्मा किसान है। जो इसमें पाप-पुण्य के बीज बोता है।"

शरीर एक मकान है, आत्मा इसमें रहने वाला मालिक है। शरीर एक घोंसला है, आत्मा इसमें रहने वला पक्षी है। शरीर एक नाव है, आत्मा इसे चलाने वाला नाविक है। यहाँ पर मनुष्य-जीवन का महत्त्व इसलिए है कि संयम, तप आदि द्वारा मोक्ष की साधना की जा सकती है। इसलिए हमारी भारतीय संस्कृति का उद्घोष है–

"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।"

–एक मानव-जीवन ही ऐसा है जिसके द्वारा धर्म आराधना करके मोक्ष पद की प्राप्ति की जा सकती है। भगवान महावीर स्वामी ने मानव-जीवन का महत्त्व बताते हुए फरमाया है–

"दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्व पाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए॥"

–उत्तराध्ययनसूत्र

–हे गौतम ! सब प्राणियों के लिए मनुष्य-भव चिरकाल तक दुर्लभ हैं। दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी उसकी प्राप्ति होना कठिन है, क्योंकि कर्मों के फल बहुत गाढ़े होते हैं। अतः समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

मानव-जीवन की महिमा अपरम्पार है। इसका मुकाबला देव-जीवन भी नहीं कर सकता। आध्यात्मिक दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तथा वीतराग और सर्वज्ञ प्रभु के वचनों पर ध्यान देते हैं तो हमें मालूम पड़ता है कि चरम सीमा तक आध्यात्मिक विकास केवल मनुष्य ही कर सकता है। यद्यपि देवताओं को मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सुख और अधिक शक्ति--सामर्थ्य प्राप्त• होते हैं, किन्तु आत्म-साधना और उसकी सिद्धि का सवाल जहाँ आता है, वे पीछे रह जाते हैं, क्योंकि देव योनि भोग योनि है, वहाँ आत्मा त्याग की साधना नहीं कर सकता। देवता अधिक से अधिक चार गुणस्थान पा सकते हैं। किन्तु आत्मा की अनन्त शक्ति का उपयोग करने में समर्थ मानव चौदह गुणस्थानों को पार करके परमात्मपद भी पा लेता है।

मानव विश्व का शृंगार है, उससे बढ़कर विश्व में कोई भी श्रेष्ठ व ज्येष्ठ प्राणी नहीं है। यह मानव-जीवन एक तीर के तुल्य है। अतः खूब सोच-विचारकर पहले अपना लक्ष्य निर्धारित करो और तब इसे छोड़ो ताकि यह निष्फल न जाने पाये। क्योंकि मानवता का आधार मानव है। मानवता मानव का शृंगार है। मानव की सुरक्षा मानवता से होती है और मानवता की सुरक्षा का दायित्व मानव पर है। मनुष्य जब तक मानवीय मूल्यों की परिधि में चंक्रमण करता है, वह मानवता को उपेक्षित नहीं कर सकता। मानवता को उपेक्षित करने का अर्थ है मानवता के मूल्यों को नकारना। मानव चेतना, मानवता मे शून्य होकर मानवीय रह ही नहीं सकती।

आज के समाज में यद्यपि विज्ञान की उन्नति ने मानव-जाति की समृद्धि के लिए नये-नये मार्ग खोल दिये हैं। तथापि दोषों की भी एक भारी मात्रा ने हमारे समाज में घर कर लिया है। मनुष्य नये आविष्कारों की चकाचौंध में मनुष्यत्व के पथ से ही भटक गया है, इसलिए उसे आवश्यकता है मानवता की शिक्षा की। तभी उसका

कल्याण हो सकता है। समाज में फैली पाशविकता, वैमनस्यता और अमानवीयता को दूर न किया गया तो भय है कि वर्तमान विश्व नष्ट तो नहीं हो जायेगा। जहाँ मानव अपने साधनों का विकास कर रहा है, प्रकृति को अपने आधीन करने की चेष्टा में जुटा हुआ है, वहीं आज मनुष्य मानव-समाज का संहार करने, नष्ट कर डालने के लिए नये-नये रासायनिक शास्त्रों का निर्माण कर रहा है। अणु एवं परमाणु बमों का उत्पादन तेजी से बढ़ रहा है। मनुष्य में अपने स्वार्थ के लिए सारे संसार तक को भस्म कर डालने तक की दुर्बुद्धि आ गई है। उसे मनुष्यत्व का ज्ञान नहीं है। पाशविक शक्ति का ही नाम शक्ति मान लिया गया है। क्योंकि हम क्या हैं? क्यों हैं? और हमें क्या चाहिए? क्या नहीं? हमारा कल्याण कैसे हो सकता है? हमारा लक्ष्य क्या है? इसका वर्तमान मनुष्य को ज्ञान ही नहीं है। क्योंकि उसने उन महापुरुषों के कथन को भुला दिया जिनका जीवन समस्त संसार के कल्याण के लिए रहा और जिनकी शिक्षा में मानव-जाति की अमूल्य निधि है।

संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण चित्र है। वह मानव-जीवन की एक प्रेरक शक्ति है, जीवन की प्राणवायु है, जो चैतन्यभाव की साक्षी प्रदान करती है। संस्कृति का अर्थ है संस्कार-सम्पन्न जीवन। वह जीवन जीने की कला है, पद्धति है। संस्कृति का प्रयोजन मानव-जीवन है, मानव-जीवन को ही सुसंस्कृत बनाया जा सकता है। संस्कृति मानव-जीवन का ही एक प्रगतिशील तत्त्व है। संस्कृति और संस्कार हम कुछ भी क्यों न कहें, वह हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाने की कला है। भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया–

"माणुस्सं खु सुदुल्लहं।"

–मनुष्य में मनुष्यता का जाग्रत होना सबसे दुर्लभ है। मनुष्यता से ही मानव-शरीर की महत्ता है।

भारतीय संस्कृति में : मानव-जीवन

भारतीय संस्कृति शब्द का उच्चारण करते ही भारत देश की उच्च अध्यात्म संस्कृति का ऐसा सुरम्य चित्र सबके अन्तर्मानस में उभरने लगता है, जिसमें स्वार्थ की जगह सेवा, भोग की जगह त्याग के रंग खिले हुए हैं। वास्तव में भारतीय संस्कृति का अर्थ है प्रकाश के मार्ग में अनुष्ठान करने से प्राप्त होने वाली संस्कार-सम्पन्नता। *"भारत"–"भा" यानि प्रकाश में या प्रकाश के मार्ग में, "रत"* = दत्तचित्त होकर अनुष्ठान करने से जो संस्कार-सम्पन्नता मानव के मन में जाग्रत होती है वह भारतीय संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति का आदर्श हैं-राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गांधी। राम की मर्यादा, कृष्ण का कर्मयोग, महावीर की सर्वभूत हितकारी अहिंसा और अनेकान्त, बुद्ध की करुणा, गांधी की धर्मानुप्राणित राजनीति और सत्य का प्रयोग ही भारतीय संस्कृति है। "दयतां, दीयतां, दम्यताम्।" इस सूत्र में ही भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण सार आ जाता है। दया, दान और दमन ही भारतीय संस्कृति का मूल है। मानव की क्रूर वृत्ति को नष्ट करने के लिए दया की आवश्यकता है, संग्रह वृत्ति को मिटाने के लिए दान की जरूरत है और भोग की उपशान्ति हेतु दमन आवश्यक है। वेद दान का, बुद्ध दया का और जिन दमन का प्रतीक है।

भारतीय संस्कृति एक होते हुए भी तीन धाराओं में प्रवाहित हुई है। एक ही धारा तीन रूपों में विभक्त हुई है, जिसे वैदिक, जैन और बौद्ध धारा कहा गया है, तथापि अपने मूल रूप में उसके दो ही रूप स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। जिसे हम श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति के नाम से सम्बोधित करते हैं। ब्राह्मण संस्कृति का मूल आधार वेद रहा है। वेदों में जो कुछ भी आदेश और उपदेश उपलब्ध होते हैं उन्हीं के अनुसार जिस परम्परा ने अपने जीवन-यापन की पद्धति का निर्माण किया वह परम्परा ब्राह्मण संस्कृति कहलाई और जिस परम्परा ने वीतराग आप्तपुरुष के वचनों को प्रामाणिक मानकर समत्व की साधना पर अधिक बल दिया वह श्रमण संस्कृति कहलाई। श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति का मिला-जुला रूप ही भारतीय संस्कृति है।

यही भारतीय संस्कृति मानव को मानवता में जीना सिखाती है। जो परिस्थितियों को देखकर चलता है, वह मानव है। परिस्थितियाँ ही मानव का निर्माण करती हैं। जो परिस्थितियों को बनाकर चलता है, वह महामानव है। महामानव स्वयं परिस्थितियों का निर्माण करता है। महाभारत में महर्षि वेदव्यास ने कहा है-

"नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।"

-इस समूची सृष्टि में मनुष्य से महान् कुछ भी नहीं है। आज मनुष्य अपनी वास्तविक, स्वाभाविक महानता को भुला बैठा है और अपने नाना प्रकार के स्वार्थ व दुष्कर्मों में लिप्त होकर मानवता को धूमिल कर रहा है। इस स्थिति के लिए बहुत सीमा तक परिस्थितियों का भी योगदान है। यदि परिस्थितियों में परिवर्तन लाया जाये तो अधिकांश मनुष्य अनीति और अधर्म के मार्ग से लौटकर नीति और धर्म के मार्ग पर प्रसन्नतापूर्वक चले आयें तथा स्वयं भी सुखी बनें और अन्य लोगों को भी सुखी बनाएँ।

मनुष्य ज्ञान से या बातों से बड़ा नहीं होता, बड़प्पन तो चरित्र की पवित्रता से आता है। संसार उन्हीं सच्चरित्र मनुष्य, सद्‌गुणी और सदाचार-सम्पन्न व्यक्तियों को याद करता है, उन्हीं की गाथाएँ गाता है। जिनके जीवन की कोई न कोई घटना, प्रेरणा, कोई त्याग, बलिदान, सेवा और साहस की प्रकाश-किरण उसके जीवन में आलोक बन सकती है और जिनके भीतर मानवता का विराट् स्वरूप छिपा रहता है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में मनुष्य-भव की दुर्लभता दर्शाई–

"आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥
फिरत सदा माया कर टेरा। काल धर्म सुभाव गुण घेरा॥
कबहुक करि करुणा नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥"

–यह जीवात्मा कर्मानुसार चार गति चौरासी लाख जीव योनि में भटकता रहता है। यह जीवात्मा माया से प्रेरित होकर, काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ इनके वश होकर संसार में चक्कर काटता है। असीम पुण्य उदय से, मनुष्य-भव की प्राप्ति होती है। यह मोक्ष का द्वार है, साधना का केन्द्र है। इसे पाकर जिसने अपना परलोक नहीं सुधारा, वह अन्त में हाथ मल-मलकर पश्चात्ताप करता है।

"दुर्लभ मानव भव मिला, कर एकत्व विचार।
कैसे होगा अन्यथा, तेरा आत्मोद्धार॥
बार-बार नहीं पाइये, मनुष्य-जन्म की मौज।
मौज पाना चाहते, कीजे उसकी खोज॥"

–इस संसार में मनुष्य-जन्म का मिलना दुर्लभ है। अय मानव ! आत्म-विकास के एक लक्ष्य पर चिन्तन कर और सोच-विचार कि जीवन का कल्याण कैसे होगा? आत्मा का उद्धार कैसे होगा? क्योंकि यह इंसान का चोला बार-बार मिलने वाला नहीं है। अरे ! यदि मनुष्य-जन्म का लाभ उठाना है तो आत्मा में विराजित परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करो। जीवन के अन्दर आनन्द-मंगल का अखूट खजाना भरा है। तभी मानव-जीवन सार्थक हो सकता है। जब हम अपने स्वरूप का दिग्दर्शन करेंगे और भीतर में छुपे उस गुण-भण्डार को पा सकेंगे।

मनुष्य का अर्थ : मननशील

अपने हित-अहित को समझकर काम करते हैं, इसलिए मनुष्यों का नाम मनुष्य है।

"मनसि शेते–मनुष्यः।"

–जो मन के भीतर रहता है, चिन्तन-मनन करता है, वह मनुष्य है।

मनु महाराज ने 'मनुस्मृति' में कहा है–

"बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा, नरो वै देवानां ग्रामिः।"

–बुद्धिमानों में मनुष्य सबसे श्रेष्ठ है। मनुष्य देवों का ग्राम है अर्थात् निवास-स्थान है।

किसी जिज्ञासु ने संस्कृत के विद्वान् से पूछा–

"किं दुर्लभं ? नृजन्म।"

–इस ब्रह्माण्ड के अन्दर दुर्लभ क्या है? उत्तर मिला–मानव-जीवन दुर्लभ है।

'स्थानांगसूत्र' में भगवान महावीर स्वामी ने कहा है–चार कारणों से जीव मनुष्यगति का आयुष्य बाँधते हैं–(१) सरल प्रकृति से, (२) विनीत प्रकृति से, (३) दया भाव से, और (४) ईर्ष्या भाव से रहित। मनुष्य-जन्म में ही इन चारों गुणों का विकास हो सकता है, अतः यह जन्म सर्वश्रेष्ठ है। आचार्य विनोवा भावे ने मनुष्य-जीवन को अनुभव का शास्त्र बताया है। मनुष्य का मापदण्ड उसकी सम्पदा नहीं, अपितु उसकी बुद्धिमत्ता है। 'पद्मपुराण' के अन्दर मानव के छह गुण बताये गये हैं–

"दानं दरिद्रस्य विभो क्षमित्वं, युवां तपो ज्ञानवतां च मौनम्।
इच्छानिवृत्तिश्च सुखोचितानां, दया च भूतेषु दिवं नयन्ति॥"

–दरिद्र होकर भी दान करना, जो सामर्थ्य वाले हैं उनका क्षमा करना, जो जवान हैं उनका तपस्या करना, जो ज्ञानी हैं उनका मौन रखना, जो सुख भोगने के योग्य हैं उनका सुख की इच्छा का त्याग करना और सभी प्राणियों पर दया करना, ये सद्गुण मनुष्य को स्वर्ग में ले जाने वाले हैं।

मानव-जीवन के सम्बन्ध में 'सिन्दूर प्रकरण' के अन्दर आचार्यश्री ने चार कथानक दिये हैं और कहा–"अय इंसान ! सुनो, यह मनुष्य का शरीर तुम्हें मिला है। अरे ! कहीं अज्ञान के कारण, अविवेक व प्रमाद के कारण इसका दुरुपयोग ता नहीं कर रहे हो। आचार्य महाराज स्वयमेव ही कथानक दे रहे हैं।

सोने के थाल में कूड़ा भरा

पहला कथानक–*"स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः।"*

एक राजा था, जिसकी जवानी ढलती जा रही थी। लेकिन राजा के यहाँ सन्तान के दर्शन नहीं हो रहे थे। आप जानते हैं जिस घर में सन्तान न हो, वह घर सूना-सूना नजर आता है। गृहस्थों के लिए दीपक का रूप पुत्ररत्न है। जिसे कुल-दीपक कहते हैं। जैसे रात्रि का दीपक चन्द्रमा है, दिन का दीपक सूर्य है, वैसे ही कुल का दीपक पुत्र है। पंजाबी का कवि बहुत सुन्दर शब्दों में कह रहा है–

"सुन्ना घर पुत्त दे बाजों, जित्थे दिने अन्धेरा ए।
बाज भरावां दे हर वेले, सुन्ना चार चुफेरा ए॥
सुन्ना दिल मूर्ख बन्दे दा, जिस दे दिल विच प्यार नहीं।
सब तो वध गरीबी सुन्नी, जित्थे रुत बहार नहीं॥"

राजा के पुत्र नहीं, ये सब कुदरत की लीला न्यारी है। कर्म गति, पता नहीं पल में क्या खेल रचा दे। कभी राजा बना दे, कभी रंक बना दे। कर्म का चक्र न्यारा है। कहा भी है–

"कर्म तेरी लीला रे अपरम्पार।
समझ न आवे माया तेरी, बदले रंग हजार॥"

कुदरत ने, कर्म ने, भाग्य ने, प्रभु ने उसकी पुकार सुन ली। राजा के यहाँ बुढ़ापे के अन्दर पुत्ररत्न ने जन्म लिया। आप जानते हैं, जब इंसान की कमी पूरी हो जाती है। तब इंसान की खुशियों का पारावार नहीं रहता। भीतर भी प्रसन्नता का अनुभव होता है और वे खुशियाँ बाहर में भी प्रकट हो जाती हैं। राजा भी खुशियों में फूला नहीं समा रहा। पुत्र की खुशी में राजा ने धन के खजाने खोल दिये। सबको मुँह माँगा इनाम देता जा रहा है। जो भी द्वार पर आ जाता है उसको देता जा रहा है।

एक दिन उसकी दृष्टि उस आदमी पर गई जो महलों में सफाई का काम करता है। राजा ने उसको बुलाया–"अरे ! तुझे पता नहीं, महारानी ने पुत्र को जन्म दिया है। मेरे मन के अन्दर कितनी खुशी छाई हुई है। इधर आ, मैं तेरे को इनाम दूँ।" तब राजा ने उसको सोने का थाल दे दिया। जिसमें हीरे, जवाहरात, पाँच लाल इत्यादि जड़े हुए थे। मैं तुझे इस खुशी के उपलक्ष्य में यह भेंटस्वरूप देता हूँ। उस सोने के थाल को लेकर वह व्यक्ति अपने घर में आ गया। उस व्यक्ति ने सोचा–'वाह ! राजा ने मुझे कितना मजबूत टोकरा दिया है। यह कभी टूटेगा भी नहीं।' अब वह उस टोकरे से गन्दगी ढोने लगा।

बहुत दिन व्यतीत हो गये। कुछ दिनों के बाद राजा ने उसे बुलाया और कहा–"अरे भाई ! तुझे मैंने पुत्र-जन्म की प्रसन्नता में एक सोने का थाल दिया था,

जिसमें हीरे, जवाहरात, पन्ने, मोती, लाल जड़े हुए थे। वह थाल कहाँ पर है?" उस सफाई करने वाले ने उत्तर दिया–"महाराज ! वह बाहर गन्दगी से भरा हुआ पड़ा है।" राजा ने कहा–"ला उसे खाली करके।" वह थाल खाली कर लाया। काफी लाल गिर चुके हैं, केवल एक-दो लाल बाकी बचे हैं। राजा मन में सोचता है–'अरे सवारी दी थी नीचे के लिए, परन्तु रख ली ऊपर के लिए।' राजा ने थाल लिया, उसमें से एक लाल निकाला और कहा–"तुम राजसुनार के पास जाओ, कहना इसकी जितनी कीमत है वो दे दो, राजा ने कहा है।" गया, ले आया, सवा लाख रुपया।

राजा ने कहा–"अरे भोले इंसान ! यदि तू पाँच पीढ़ी भी बैठा-बैठा इस थाल का धन खाता तो भी खत्म न होता। तूने तो यूँ ही गन्दगी ढोने में थाल को बेकार कर दिया है; हीरे, पन्ने, जवाहरात, लाल इत्यादि गँवा दिये। अब रोता है, चिल्लाता है–हाय मैंने अनमोल लाल गन्दगी में रुला दिये।" इसी प्रकार आचार्यश्री कह रहे हैं–अय मानव ! पुण्य योग से तुम्हें यह अनमोल मानव-जीवन मिला, मनुष्य का शरीर सोने के थाल तुल्य, पाँच लाल-इन्द्रियों के समान हैं, महान् पुण्योदय से नर की देह पाई। जोकि मानव विषयों में लिप्त होकर गँवा रहा है। जब अन्त समय समीप आता है तब रोता है, चिल्लाता है और कहता है–"वैद्य जी ! चाहे आप मेरी सारी उम्र की कमाई ले लो। किन्तु मुझे मरते समय ५ मिनट के लिए जीवनदान दे दो।" अरे ! लाखों रुपये देकर भी हम ५ मिनट के लिए जीवन नहीं पा सकते? तो सारी जिन्दगी कैसे उपलब्ध हो सकती है। इसलिए हम ऐसे ही विषय-वासनाओं में अनमोल श्वासों को खो रहे हैं। यदि हम श्वासों का मूल्य जानेंगे और अपने मानव-जीवन को इस भव सिन्धु से पार कर ले जायेंगे, तो ही हमारे परिश्रम की सफलता है।

अमृत से धोये पैर

दूसरा कथानक–*"पादशौचं विधत्ते पीयूषेण।"*

बहुत वर्षों तक तप करके एक तपस्वी ने अमृत-कलश की प्राप्ति की। अर्थात् एक देव ने तपस्या से प्रसन्न होकर तपस्वी महात्मा को अमृत का कलश दिया। एक व्यक्ति जो दरिद्र, दीन, हीन है, रोगों से घिरा हुआ है, वह आत्म-शान्ति पाने के लिए उसके सामने आया। उसने महात्मा की तन-मन से सेवा की, सेवा से प्रसन्न होकर तपस्वी महात्मा ने अमृत-कलश उसको दे दिया। "अरे भाई ! ले; यदि तू इसका सेवन करेगा, तेरा जीवन निखर जायेगा, रोगमुक्त होकर स्वस्थ-प्रसन्न हो जायेगा।" अमृत का कलश उस व्यक्ति को दे दिया। वह अमृत-कलश लेकर रास्ते

में जा रहा था, रास्ते में किसी स्थान पर कीचड़ आया। असावधानी से कीचड़ से उसके पैर भर गये, कीचड़ से लथपथ हो वह विचार करता है–'क्या किया जाये। अरे ! यह पानी क्या काम आयेगा?' उसने अमृत को अपने पैरों पर डाल दिया। अमृत से अपने पैरों को धो लिया। सारा अमृत कीचड़ में डाल दिया। फिर कई दिन के बाद महात्मा जी के पास गया और बोला–"महात्मा जी ! आपने कहा– तेरा जीवन निखर जायेगा परन्तु निखरा तो है नहीं।" "अरे ! क्या किया उस अमृत का?" "गुरु जी, मैंने उस अमृत से पैर धो डाले।" आचार्य कहते हैं–"उस व्यक्ति ने अमृत-कलश को धूल में, कीचड़ में पैर धोने में बेकार कर दिया।" ऐसे ही मानवरूपी अमृत-कलश को यूँ ही व्यर्थ गँवा रहे हैं। अनमोल जन्म मिला इसको विषयभोगों में व्यर्थ गँवा दिया है। क्योंकि कवि ने भी कहा है–

"ये जन्म मिला प्रभु जपने को, तूने यूँ ही लुटा के रख दिया।
क्यों विषय विकारों में फँसकर, बेकार बना के रख दिया॥"

अय मानव ! मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। इसे पाकर क्या करना चाहिए? आत्मा का हित, कुसंग का त्याग और सद्गुरु की वाणी से प्रेम करना चाहिए। ये मानव-जीवन संसार के विषय विकारों में बेकार मत करो। जो कामभोगों में आसक्त है, उसका कोई भी इलाज नहीं है और ऐसे इंसान के लिए, जोकि कामरोग से पीड़ित है उसकी कोई भी दवा नहीं है। अरे इंसान ! इस जीवन को अमृत के समान बेकार मत करो।

हाथी पर क्यों ढोवे भार ?

तीसरा कथानक–*"प्रवरकरिणं वाहयत्येन्ध भारम्।"*

एक राजा के खुशी का प्रसंग आया। राजा ने प्रसन्न मुद्रा में दान-पुण्य करना प्रारम्भ कर दिया। एक लकड़हारा भी दान लेने राजदरबार में आया तो राजा ने प्रसन्न होकर राजहाथी दे दिया। लकड़हारा खुश हुआ। हाथी लिया और घर पर आ गया। विचार करता है–'मैं पहले सिर पर लकड़ियाँ लादकर बेचने जाता था। अब राजा ने मुझे हाथी दे दिया है। इसका उपयोग करना चाहिए।' लकड़हारे ने हाथी के ऊपर ईंधन लादकर बेचना शुरू कर दिया। कई दिन के बाद राजा ने उस लकड़हारे को देखा तो बोला–"अरे मूर्ख ! तुझे तो मैंने हाथी दिया था सवारी के लिए। पर तूने ईंधन ढोने में लगा दिया है।"

आचार्य शुभचन्द्र जी महाराज फरमा रहे हैं–चार गति चौरासी लाख जीव योनि के अन्दर सर्वप्रथम इंसान की योनि महान् मानी गई है। हाथी के समान श्रेष्ठ है। परन्तु इस मनुष्य-जन्म को लकड़हारे की भाँति, मानव कामभोगों का एवं

विषय-कषायों का भार ढो रहा है और इसे यूँ ही व्यर्थ गँवा दिया है। इसलिए आचार्य कहते हैं–अय इंसान ! तूने इस मानव-जीवन को, अज्ञान के कारण, अविवेक के वशीभूत होकर तथा चिन्ता–शोक का भार ढो रहा है। प्रत्येक समय चिन्ता में डूबा रहता है। संसार के प्रपंचों में फँसकर, मोह-ममत्व में फँसकर मानव-जीवन को बेकार कर रहा है।

काक उड़ाने फेंका चिन्तामणि रत्न

चौथा कथानक–*''चिन्ता रत्नं विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं,*
यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः।''

एक जंगल में घसियारा घास खोदता है। सारा दिन घास खोद-खोदकर अपना जीवन निर्वाह करता है। ऐसे जीवन-क्रम चल रहा है। एक दिन घास खोदकर गठरी बाँधकर चल पड़ा। काम करके थक गया। वृक्ष के नीचे घास की गठरी को उतारकर खुरपा रख दिया है। वहीं पर घास की गठरी पर सिर रखकर लेट गया, उसे नींद आ गई। ऊपर से एक देव-विमान जा रहा है। देव ने उस पर दृष्टि डाली और देखा–कहते हैं इंसान का शरीर मिलना बहुत कठिन। परन्तु यह बेचारा सुबह से शाम तक घास खोदता रहता है, फिर बाजार में बेचता है। इस बेचारे को भगवान का नाम लेने की फुर्सत कब मिलेगी। देव के मन में विचार आया कि 'मैं इसको सुखी बना दूँ, ताकि ये भगवान के नाम का स्मरण किया करेगा।' ऐसा सोचकर देव ने उसे जगाया, उठाया। अरे भाई ! ये ले चिन्तामणि रत्न है, इसे अपने पल्ले में बाँध ले। इससे जो कुछ भी माँगोगे वही मिलेगा। लकड़हारे ने उस चिन्तामणि रत्न को लिया, पल्ले में बाँध लिया। मन में विचार करता है–

''पहले पेट पूजा, फिर काम दूजा।''

–अरे ! पहले पेट भरने के लिए भोजन मिलना चाहिए।

''ढिड न पइयां रोटियां, ते सव्वे गल्लां खोट्टियां।''

–जब तक पेट में भोजन न हो, तो अन्य काम सब बेकार हैं।

''भूखे भजन न होय गोपाला, ये लो अपनी कण्ठी माला।''

–खाली पेट तो भगवान का भजन भी नहीं होता।

भारतीय साहित्य का सूत्र मुझे याद आ रहा है–

''अन्नं वै प्राणः।''

–प्राण अन्न के आश्रित है।

हाँ, तो लकड़हारा विचार करता है–भूख लगी है, भोजन मिलना चाहिए। स्वादिष्ट, सजा-सजाया भोजन का थाल आ गया। भोजन किया, तृप्त हो गया। फिर विचार किया–कभी धूप है, कभी छाँव है, कभी सर्दी-गर्मी है, कभी बरसात आ जाती है, एक मकान भी होना चाहिए। मकान क्या? धन-दौलत भी होनी चाहिए। अरे, इस मकान में अकेले मन भी नहीं लगता, शादी भी हो गई। अब सारा दिन पत्नी का मुख थोड़ा देखा करूँगा? मित्र-मण्डली भी होनी चाहिए। मित्र-मण्डली भी आ गई। मित्र-मण्डली के साथ ताश भी हो। जोश को लाने के लिए वो लाल-लाल पानी जिसे शराब कहते हैं, वो भी होनी चाहिए। सब कुछ चिन्तामणि के प्रभाव से मिल गया। महफिल जोरों के साथ जम गई। उधर वो देव विचार करता है–'अरे, मैंने उस घसियारे को चिन्तामणि रत्न दिया। देखूँ तो सही उसका क्या हाल है? अब तो भगवान का नाम लेता होगा। दो घड़ी बैठकर प्रभु का भजन खूब करता होगा। चलो, उसको देखना चाहिए।' देव आया, उसने देखा–यहाँ का तो नक्शा ही बदला हुआ है। देव सोचता है–'मैंने इसको चिन्तामणि रत्न दिया था, प्रभु का भजन करने के लिए, पर यहाँ पर मामला और ही है। चलो, मुझे क्या है, मैं अपना चिन्तामणि रत्न वापस ले लूँगा।' कौवे का रूप बनाया देव ने और महल की मुंडेर पर बैठ गया और काँव-काँव करनी शुरू कर दी। उधर खेल चल रहा था। उनके खेल में बाधा पड़ी। रंग में भंग हो रहा है। उस घसियारे ने, जो सेठ बना हुआ है, कौवे को कहा–"उड़ जा।" कौआ उड़ा नहीं। क्योंकि चिन्तामणि रत्न देव द्वारा दिया हुआ है, इसलिए उस पर आज्ञा नहीं चली। उसे गुस्सा आया, कहता–'अच्छा, यह कंकरी क्या काम आयेगी? यह तो बेकार हो गई।' अपने पल्ले से खोल कंकरी दे जोर से उस कौवे पर मारी। वास्तव में वह देव था, कौआ नहीं। अपनी चोंच में दबोच ली। कौआ चिन्तामणि रत्न को मुख में दबोचकर उड़ गया और नौ दो ग्यारह हो गया। सारा माल छूमंतर हो गया। पहले जैसा हाल हो गया, वहीं घास की गठरी एवं खुरपी नजदीक पड़ी है। घास खोदता है, बेचता है, अपने जीवन का निर्वाह करता है।

जिस प्रकार उस घसियारे को घर बैठे चिन्तामणि रत्न मिला है। पर उसने उसका दुरुपयोग करके अपने आप से गँवा दिया है। उसी प्रकार हे इंसान ! तुम्हें भी यह मानव-जन्मरूपी चिन्तामणि रत्न मिला है। इसके मूल्य को पहचानो। इससे कुछ लाभ उठाओ। इसे विषय विकारों में मत गँवाओ। यह मानव-जीवन आसानी से नहीं मिलता। मुश्किल से मिलता है।

"राजगृह नगर का राजा श्रेणिक और धारिणी महारानी का बेटा मेघकुमार

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के अन्दर अपने माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा लेते हुए मनुष्य-जन्म की दुर्लभता बताते हुए कह रहा है–हे माता-पिता ! यह मनुष्य-जन्म अध्रुव है, अर्थात् सूर्योदय के तुल्य नियमित समय पर पुनः-पुनः प्राप्त होने वाला नहीं है। इस जीवन में उलटफेर होते रहते हैं, यह अशाश्वत है, क्षण विनश्वर है, सैकड़ों व्यसनों एवं उपद्रवों से व्याप्त है, बिजली की चमक के सम चंचल है, अनित्य है, जल के बुलबुले के समान है, दूब की नोंक पर लटकने वाले जलबिन्दु के समान है, सन्ध्याकालीन के बादलों की लालिमा के सदृश्य है, स्वप्न-दर्शन के समान है। कौन पहले मरेगा और कौन पीछे मरेगा। इसलिए आप मेरे को आज्ञा प्रदान करो।''

सच्चा मानव कौन ?

आज संसार के राजनीतिज्ञ लोग कहते हैं कि आबादी तेजी से बढ़ती जा रही है। दस वर्षों में दुनिया की आबादी (मानव संख्या) आज से दुगुनी हो जाने का अनुमान है। आज भी ढाई-तीन अरब के करीब मानव संख्या है। इसलिए मनुष्य बहुत ही सस्ता है। पशु संख्या घट रही है जबकि मनुष्य संख्या बढ़ रही है। एक आदमी की जरूरत हो वहाँ हजारों आदमियों की एप्लीकेशन आ जायेगी। एक कम्पनी में ५० मनुष्यों की जरूरत थी, वहाँ २५० के करीब एप्लीकेशन आईं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मनुष्य कितना सस्ता है। एक मजदूर दिनभर के लिए चाहिए तो बारह आने में मिल जायेगा। लेकिन एक साइकिल दिनभर के लिए चाहिए तो चार रुपये देने होंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य की अपेक्षा साइकलि महँगी है। परन्तु सच्चे मानव इतने सस्ते नहीं हैं। वे बहुत ही दुर्लभ हैं। सच्चे मानव और विकृत मानव में रात-दिन का अन्तर है। सच्चा मानव वह कहलाता है जिसमें मानवता हो।

आज मनुष्य की आकृति में बहुत-से मानव इस भूमण्डल में घूमते दिखाई देंगे। परन्तु उनमें प्रकृति से मानव बहुत ही थोड़े होंगे। एक मन्त्री का चुनाव होता है तो लाखों आदमियों में से एक ही चुना जाता है। इसी प्रकार सच्चा मानव भी हजारों में से एक होता है।

उदाहरण–इटली के महान् व्यक्ति गारफील्ड जोकि बचपन की अवस्था में थे। उस समय किसी ने पूछा–''आप क्या बनना चाहते हो?'' तब बालक गारफील्ड ने कहा–''मैं सबसे पहले मनुष्य बनना चाहता हूँ। यदि ऐसा होने मे सफल न हुआ तो किसी भी कार्य में सफल न हो सकूँगा।'' यह है सच्चा मानव बनने की तीव्रता।

मनुष्य-जीवन पा लेना एक बात है, इसके उपयोग को समझना और बात है। जिस प्रयोजन के लिए जीवन मिला है, उसी प्रयोजन में इसे लगाना ही मानव-जीवन की वास्तविक परख है। मनुष्य-जीवन को प्राप्त कर लेना बहुत बड़ा सुअवसर है, मगर इसका समुचित लाभ तभी मिल सकता है जब जीवन जीने की कला आती है। मनुष्य-जीवन सबसे उत्कृष्ट जीवन है, परमात्मा के निकट पहुँचाने वाला तथा आत्मा को अत्यन्त विशुद्ध बनाकर स्वयं सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाने वाला जीवन है। मनुष्य-जीवन पाकर भी वह दुनियादारी के झमेले में पड़ जाता है, उसे पता ही नहीं लगता कि कब क्यों मुझे मनुष्य-जीवन मिला तथा कब और कैसे वह बीत गया? एक पौराणिक कथानक याद आ रहा है–

उम्र के चार भाग

दृष्टान्त–एक बार ब्रह्मा ने चार प्राणियों को ३०-३० साल की उम्र देकर मर्त्यलोक में भेज दिया। वे चार प्राणी इस प्रकार हैं–गधा, कुत्ता, बैल और मनुष्य। वे चारों पुनः ब्रह्मा के दरबार में उपस्थित हुए। गधा, कुत्ता, बैल इन तीनों ने ब्रह्मा से फरियाद की–"हे ब्रह्मा ! हमारी उम्र बहुत ज्यादा है।" सबसे पहले गधा बोला–"मैं तीस वर्ष तक बोझ लाद-लादकर मर जाऊँगा।" कुत्ते से पूछा तो वह भी कहने लगा–"तीस वर्ष तक मुझे खाना कौन देगा? जिसके यहाँ भी जाऊँगा, मुझे डण्डा मारकर भगा देगा।" बैल से पूछा गया तो उसने भी कहा–"तीस वर्ष तक मैं बैलगाड़ी चलाता रहूँगा। खेती-बाड़ी का काम करता रहूँगा। किसान तो मेरा कस निकाल लेगा। बूढ़ा होने पर मेरे को कोई नहीं पूछेगा।" तीनों की बात को सुनकर मनुष्य से पूछा–"क्यों भाई, तीस साल की आयु ठीक है?" मनुष्य ने कहा–"मुझे तो बहुत ही कम उम्र मिली है। तीस वर्ष मेरे लाड़-प्यार में तथा पढ़ने-लिखने में ही समाप्त हो जायेंगे।" तब वे तीनों एकदम बोल उठे–"ब्रह्मा जी ! आप हमारी २०-२० साल की उम्र करके शेष आयु मनुष्य को दे दो।" ब्रह्मा ने वैसा ही किया। मनुष्य खुशी से फूला नहीं समाया। तब से मनुष्य प्रारम्भ के तीस वर्ष तक मनुष्य का जीवन बिताता है। खाना-पीना, पढ़ना-लिखना भी इस उम्र तक प्रायः माँ-बाप के सहारे होता है। तीस वर्ष पूरे करते ही वह नौकरी करने लग जाता है या किसी धन्धे में प्रवृत्त हो जाता है। इस समय में मनुष्य गधे का-सा जीवन बिताता है। जैसे गधा बोझ ढोता है और मालिक का पेट भरता है, वैसे ही मनुष्य भी अत्यन्त परिश्रम करके कमाकर लाता है और अपने परिवार का पालन-पोषण करता है। इसके पश्चात् मनुष्य नौकरी या व्यवसाय करता हुआ

थक जाता है, रिटायर्ड हो जाता है, तब गधे का-सा जीवन समाप्त करके कुत्ते के जीवन में प्रवेश करता है। जैसे कुत्ता घर का पहरा देता है, वैसे ही फ्री मानव अब कुत्ते की भाँति एक स्थान पर बैठा-बैठा घर का पहरा देता है। मनुष्य के बहू-बेटे उसके लिए दरवाजे में खाट बिछा देते हैं वहीं पर बैठकर वह घर की रखवाली करता है। कुत्ते का-सा जीवन समाप्त करने के बाद वह बैल की श्रेणी में आ जाता है। जैसे बूढ़ा बैल जिसे दिखाई कम देता है, चला जाता नहीं, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ चुकी हैं। वैसे ही मनुष्य भी अपनी प्रत्येक इन्द्रियों से क्षीण हो चुका है। लेकिन भीतर जो तृष्णा जागी हुई है कि मैं बेटों के लिए यह कर जाऊँ, पोतों के लिए भी यह कर जाऊँ। यह भी बढ़िया-बढ़िया अच्छे-अच्छे माल खा जाऊँ, कपड़े पहन लूँ। अपनी विवेक-बुद्धि को तिलांजलि देकर जीवन को खाने-कमाने, मौज उड़ाने और अपने परिवार की मोहमाया में फँसकर बिता देता है। जीवन का सदुपयोग कैसे किया जाये? इससे अनभिज्ञ रहता है। इसलिए मनुष्य-जीवन, गर्दभ-जीवन, कुक्कुर-जीवन और वृषभ-जीवन, इन चार विभागों में विभक्त होकर अज्ञानी मनुष्य अपना जीवन समाप्त कर देता है।

अमृत-पुत्र

मनुष्य को उपनिषद् के ऋषियों ने अमृत-पुत्र कहा है। अमृत-पुत्र का अभिप्राय है—जो परमात्मा है, अजर-अमर है, निर्विकार है, निरंजन-निराकार है, उसका पुत्र अर्थात् उसका उत्तराधिकारी बेटा। मनुष्य को अमृत-पुत्र कहने के पीछे रहस्य यही है कि संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो परमात्मा के निकट पहुँचकर स्वयं अमृतमय बन जाता है। दूसरे किसी प्राणी में मोक्ष पहुँचने या प्राप्त करने की योग्यता नहीं है। इसलिए अमृत-पुत्र अगर कोई हो सकता है तो मनुष्य ही हो सकता है।

● ●

प्रथम फल : जिनेन्द्र पूजा

"जिनेन्द्र पूजा गुरु पर्युपास्ति, सत्त्वानुकम्पा शुभपात्रदानम्।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य, नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि॥"

–सूक्ति मुक्तावली

आचार्य श्री सोमप्रभसूरि जी ने 'सिन्दूरप्रकरण'–अपरनाम–सूक्ति मुक्तावली में मानवरूपी वृक्ष के छह फलों की अतिसुन्दर एवं सुविस्तृत चर्चा की है और इन पर प्रकाश डालते हुए फरमा रहे हैं–भव्यजनो ! अगर आप जीवन को ऊँचा उठाना चाहते हो तो, जीवन में इन छह फलों की आराधना करो जिससे मानवरूपी वृक्ष हरा-भरा हो सकेगा।

प्रथम फल = जिनेन्द्र पूजा–भगवान के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति रखते हुए भक्त जो भी पूजा-पाठ करता है, वह मनुष्य-जन्म का पहला फल है।

जिनेन्द्र पूजा में तीन शब्द हैं–जिन + इन्द्र + पूजा = जिनेन्द्र पूजा।

जिन कौन ?

'जिन' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है–

"जयति राग-द्वेषादि शत्रुन् इति जिनः ?"

–जिन्होंने राग-द्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं को जीत लिया, उसे जिन कहते हैं। आचार्य श्री मलयगिरि ने 'जिन' शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है–

"राग-द्वेष-कषायेन्द्रिय-परीषहोपसर्गाष्ट प्रकारक कर्म जेतृत्वात् जिनाः।"

–आवश्यक मलयगिरि

–राग-द्वेष-कषाय पाँच इन्द्रिय, बाईस उपसर्ग और आठ प्रकार के कर्मों को जीतने–इन पर अपना स्वामित्व स्थापित करने के कारण 'जिन' कहलाते हैं। राग और द्वेष के कारण ही कर्मों की उत्पत्ति है। आत्मा के शत्रुओं में प्रमुखतम् हैं राग और द्वेष। भगवान महावीर 'उत्तराध्ययनसूत्र' में फरमाते हैं–

"रागो य दोसो बिय कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई मरणं वयंति॥"

—राग और द्वेष—ये दोनों कर्म के बीज हैं, मोह से कर्म उत्पन्न होते हैं एवं कर्मों से जन्म-मरण का चक्र बढ़ता है। यही समस्त प्रकार के दुःखों का मूल है। यदि कर्म के बीजरूप राग और द्वेष को ही नष्ट कर दें तो शाखा-प्रशाखारूप जन्म-मरण कहाँ रहेंगे?

'नास्ति मूलं कुतः शाखाः ?' के अनुसार मूल के अभाव में शाखा-प्रशाखा, फल-फूल आदि कहाँ? अतः पहले मूल पर प्रहार करो, उसे सँभालो, यदि मूल नष्ट हो गया तो फिर शाश्वत सुखों में कोई बाधा नहीं। कहा भी है—

"राग दोसे य दो पावे, पाव कम्म पवत्तणे।"

अर्थात् राग और द्वेष दोनों ही पापकर्म के प्रवर्त्तक होते हैं। प्रत्येक प्राणी अनिष्टकारी प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है तो इन दोनों के कारण। ये दोनों आत्मा के अतिप्रबल शत्रु हैं। सभी जीवों को और सदैव सुखों में लीन रहने वाले देवों को भी जो कायिक व मानसिक दुःख हैं वे राग और द्वेषरूप कषायों से उत्पन्न होते हैं एवं वीतरागी उन दुःखों का अन्त कर लेता है। वस्तुतः राग और द्वेष चारित्र का विघात करते हैं एवं चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के प्रभाव से समस्त दुःखों की अनन्त परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। ये दोनों हमारे अन्तः प्रविष्ट शत्रु हैं। बाह्य शत्रु तो अवसर देखकर अपना दाँव लगने पर ही प्रहार करते हैं एवं समय आने पर उनका प्रतिकार भी किया जा सकता है। किन्तु राग-द्वेष तो 'विषकुम्भं पयो मुखम्' की भाँति मित्र-मुख शत्रु हैं, हमारे लिए आस्तीन के साँप सिद्ध हो रहे हैं, जो हमारा इतना अनिष्ट करते हैं। जितना शत्रु भी नहीं करता।

"न वि तं कुणई अमित्तो सुट्ठु बि य विराहिओ समत्थोवि।
जं दो वि अनिग्गहिया करंति रागो य दोसो य॥"

—यदि हम सावधान रहें तो समर्थ होते हुए भी शत्रु हमारा उतना अहित नहीं कर सकता, जितना अतिगृहीत दशा में रहे हुए राग और द्वेष करते हैं। अतः प्रहार करना है तो सर्वप्रथम इन आत्म-शत्रुओं पर करो, दमन करना है तो इनका करो, विजय प्राप्त करनी है तो इन पर विजय पाओ। राग और द्वेष पाँव में लगे हुए काँटे की भाँति हैं, जो सदैव साथ रहकर, मित्र बनकर, चरणों में झुककर भी हमें पीड़ित और दुःखी बनाते रहते हैं।

दो प्रकार की बिजली होती है। एक अपनी ओर खींचती है और दूसरी झटका देकर आदमी को दूर फेंक देती है, किन्तु दोनों ही प्रकार की बिजलियाँ मारने वाली हैं, दोनों का ही दुष्परिणाम मनुष्य को भोगना पड़ता है, दोनों रूप घातक हैं। ऐसे ही राग और द्वेष भी होते हैं। राग अपनी ओर प्राणी को आकर्षित करता है या प्राणी उस ओर खींचता है तथा द्वेष के कारण आप व्यक्ति को दूर झटक देते हैं। प्रत्येक वस्तु में मनोज्ञता व अमनोज्ञता के दोनों पक्ष होते हैं। मनोज्ञ शब्द, गन्ध, रूप, रस और स्पर्श आदि हमें अपनी ओर खींचते हैं, हममें एक आकर्षण उत्पन्न करते हैं। वही दूसरी ओर अमनोज्ञ शब्दादि हममें विकर्षण का भाव उत्पन्न करते हैं। इनसे घृणा आदि का जन्म होता है। अपनी ओर खींचने वाली विद्युत् की भाँति रागभाव है एवं झटका देकर दूर फेंकने वाली विद्युत् की भाँति द्वेष है। ये दोनों ही परिस्थितियाँ आत्म-विकास के लिए जिज्ञासु व साधक पुरुष के लिए घातक होती हैं, इनसे दूर रहना व बचना ही हमारे लिए, सबके लिए श्रेयस्कर है। इसीलिए प्रभु ने 'दशवैकालिकसूत्र' में फरमाया है–

"छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए।"

–इस संसार में सुखी बनने का एकमात्र उपाय है–द्वेषभाव का छेदन करो एवं रागभाव को भी त्यागो। राग और द्वेष पिशाच के समान हैं, जो शनैः-शनैः मनुष्य को छलते हैं, धोखे में लेकर संहार कर देते हैं, अतः समझ-बूझकर भी हम इनके धोखे में क्यों आवें? आगे जैनाचार्य कहते हैं–

राग और द्वेष दोनों ही बेड़ियाँ हैं। द्वेष लोहे की बेड़ी है एवं राग सोने की है। दोनों ही बेड़ियाँ मनुष्य की पराधीनता का कारण हैं। लोहे की बेड़ी पहना दिये जाने पर व्यक्ति अपमान अनुभव करता है, उसे लोगों के सन्मुख होने में भी शर्म महसूस होती है, वैसे ही सोने की बेड़ी पहनकर भी व्यक्ति प्रसन्न नहीं होता। दोनों से ही वह मुक्त होना चाहता है। ठीक वैसे ही राग और द्वेष को भी बेड़ियाँ मानकर आत्मा को इनसे पृथक् करना चाहिए।

यह संसार तो एक महावृक्ष के तुल्य है, राग एवं द्वेष जिसकी जड़ें हैं, आठ कर्म उसकी शाखायें हैं, किम्पाक फल के कटु रस के समान इनका परिणाम भी कटु होता है। इसलिए सर्वप्रथम संसार-वृक्ष की जड़ों को सुखाओ, इन पहनी हुई बेड़ियों को काटो एवं राग-द्वेष संसाररूपी वृक्ष की जड़ों को सुखा दो, तभी सुखी बन सकोगे।

राग और द्वेष ही कर्मों के वीज हैं, राग-द्वेष कर्म के बीज हैं, कर्म से मोह उत्पन्न होता है, मोह से जन्म-मृत्यु का चक्र है। जहाँ जन्म-मृत्यु है, इसके बीच में

जीवन है। जीवन में रोग भी है, वियोग भी है, संयोग भी है, जवानी है, बुढ़ापा है, फिर मृत्यु है। इसलिए प्रभु महावीर ने फरमाया है–राग-द्वेष ही कर्मों के कारण इनके द्वारा कर्मों की उत्पत्ति होती है। कर्मों के कारण ही संसार परिभ्रमण है।

उदाहरण–एकदा बादशाह अकबर प्रातःकालीन किसी नारी के रुदन की आवाज सुनता है–"अरे ! ये क्या? ऐसी कौन-सी औरत है, भोर के सुहावने समय में भी रो रही है।" तब बादशाह सलामत ने एक सेवक को दौड़ाया और कहा–"देखो कौन रो रही है?" सेवक दौड़ा और वापस लौटकर आया। बादशाह सलामत को सूचना दी–"जहाँपनाह ! एक लड़की रो रही है।" "क्यों?" "उस लड़की को जमाईराज अपने साथ ले जा रहा है। अर्थात् पीहर से ससुराल जा रही है। इसीलिए लड़की जाते समय रो रही है।" बादशाह अकबर ने अपने वजीर बीरबल को बुलाया। बीरबल सज-धजकर राजदरबार में हाजिर हो गया और बोला–"जी हुजूर ! फरमाओ क्या आज्ञा है इस सेवक को?" "अरे बीरबल ! जमाई तो बड़े ऊत होते हैं, जोकि लड़कियों को ले जाते समय उन्हें रुलाते हैं। बीरबल ! आप लोहे के डण्डे तैयार करवाओ और उन जमाइयों को राजदरबार में बुलवाओ और लोहे के डण्डों से पिटाई करवाऊँगा।"

बीरबल बुद्धि का धनी था। भरे राजदरबार में बीरबल डण्डों के नमूने लेकर आ गया। डण्डे सोने, चाँदी और लोहे के लेकर आया। बादशाह अकबर से कहा–"हुजूर ! लो, मैं ये डण्डे ले आया हूँ।" "अरे बीरबल ! ये तीन प्रकार के डण्डे कैसे?" "हुजूर ! जमाई में अन्तर होता है। किसी का जमाई गरीब का, किसी का अमीर का और कोई जमाई बादशाह का भी होगा। ऐसा सोचकर ही तो तीन नमूने बनवाकर लाया हूँ। जहाँपनाह ! आप क्षमा करना, आप भी तो किसी के जमाई हो। आपकी पिटाई लोहे के डण्डे से नहीं बल्कि सोने के डण्डे से होगी। आपके लिए सोने के डण्डे तैयार किये हैं। इन सेठ साहूकारों के जमाइयों के लिए किसी और डण्डे से नहीं, इस चाँदी के डण्डे से पिटाई होगी। और इन गरीबों के जमाइयों की पिटाई लोहे के डण्डों से होगी। हुजूर ! जैसा मुँह वैसी चपत होनी चाहिए।" बादशाह अकबर समझ गया और मुस्कराया तथा कहा–"अरे बीरबल ! मेरे साथ भी ऐसा होगा। नहीं भाई ! ऐसा काम नहीं करना है। मार तो मार ही रहेगी, चाहे वो सोने का डण्डा है, चाहे चाँदी का डण्डा या लोहे का डण्डा है। इसी प्रकार चोट तो चोट ही है, चाहे वह राग की हो, चाहे द्वेष की हो। राग तो आसक्ति रूप है और द्वेष घृणा, नफरत आदि के रूप में व्यक्त होता है।" प्रभु महावीर ने कहा है–

"रागो य दोसो बिय कम्मबीयं।"

–राग और द्वेष–दोनों कर्म के बीज हैं, चार गति चौरासी लाख जीव योनि में परिभ्रमण कराने व दिलवाने वाले हैं। भगवान महावीर ने फरमाया है–जीवन के लिए मृधु मिश्रित जहर और खालिस जहर दोनों ही घातक हैं। इनमें भी राग और द्वेष की परम्परा बड़ी जबर्दस्त है। शास्त्रकार फरमाते हैं कि राग और द्वेष जीव के बड़े से बड़े शत्रु बनकर उसे अधोगति में ले जाते हैं। वस्तुतः समस्त दुःखों के मूल यह राग-द्वेष ही हैं। एक संस्कृताचार्य ने कहा–

"राग-द्वेष वशीभूतो, जीवोऽनर्थ परम्पराम्।
कृत्वा निरर्थकं जन्म, गमयति यथा तथा॥"

–राग और द्वेष के चंगुल में पड़ा जीव अनर्थों की परम्परा को प्राप्त करता है, उसके लिए अनर्थों का ताँता लग जाता है। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, ज्यों-ज्यों आगे से आगे अनर्थ उत्पन्न होते ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में वह जैसे-तैसे अपना जीवन निरर्थक व्यतीत करता है, उसे मानव-जीवन पाने का कुछ भी फल नहीं मिलता। प्रश्न यह है कि राग-द्वेष का विनाश कैसे किया जा सकता है? जैसे दुश्मन को जीतने के लिए पहले सैनिक को ट्रेनिंग लेनी पड़ती है और तब आसानी से दुश्मन पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार राग-द्वेषरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए भी अनुभवी गुरुरूपी सेनापति के अधीन होकर ट्रेनिंग लेने की आवश्यकता है। शास्त्रकार कहते हैं–राग और द्वेष क्या हैं? राग द्विमुखी है–राग के दो रूप हैं–माया और लोभ।[1] द्वेष भी द्विमुखी है–क्रोध और मान। राग और द्वेष दोनों मुकाबिले के हैं, दोनों की शक्ति प्रबल है। राग के हिमायती लोभ तथा कपट हैं, द्वेष के क्रोध एवं मान हैं। लोभ और कपट अपना अभिमत–वोट राग को देते हैं और क्रोध तथा मान अपना वोट द्वेष को देते हैं। जो राग-द्वेष को जीतने की कोशिश करते हैं, जो आत्म-विजेता हैं, वे जिन कहलाते हैं। भगवान महावीर ने कहा है–राग-द्वेष और मोह दोनों ही कर्म के बीज हैं। एक से राग होगा तो दूसरे से द्वेष तो स्वतः ही हो जाता है। द्वेष राग से ही पैदा होता है। जैसे दो बहनें हैं या अड़ोसी-पड़ोसी हैं। अगर एक का भी बच्चा दूसरे के बच्चे को चाँटा मार देता है, या कभी गाली दे देता है। अपने बच्चे के प्रति हर माँ को राग होता है, ममत्वभाव होता है। पड़ोसी या अपनी देवरानी या जेठानी का बच्चा जब उसके बच्चे को कभी दबा लेता है, तब वह अपने बच्चे के मोह के कारण पड़ोसी या अपनी बहन से लड़ने लग जाती है। यही राग-द्वेष कर्म के बीज हैं।

---

१. रागे दुविहे पण्णत्ते–माया य लोभे य। *–प्रज्ञापना पद २३/१*

जब आत्मा कर्मबन्धन से भारी हो जाती है, तब आत्मा का पतन होता है। जब आत्मा के कर्म पतले पड़ जाते हैं, तब आत्मा हल्की हो जाती है। कर्म के कारण ही संसार परिभ्रमण होता है, चार गतियों में यह जीवात्मा भटकती है।

उदाहरण–एक बार महात्मा बुद्ध के शिष्यों में विवाद छिड़ गया कि "आत्मा का कौन-सा दुर्गुण है, जो आत्मा का पतन करता है?" जिसमें एक शिष्य बोला– "आत्मा का पतन करने वाली शराब है।" किसी ने धन को, किसी ने परस्त्रीगमन को, किसी ने माँस को, किसी ने जुआ, चोरी, वेश्यागमन। ऐसे करते-करते विवाद बढ़ता गया। अन्त में समाधान नहीं हो पाया। आखिरकार सभी शिष्य महात्मा बुद्ध के चरणों में उपस्थित हो गये। महात्मा बुद्ध ने सकल चर्चा को दृष्टिगोचर कर लिया और जरा-सा मुस्कराये। अपने शिष्यों को सम्बोधित कर बोले–"हे भिक्षुओ ! जरा ध्यान से सुनो–एक व्यक्ति है, उसके पास एक छिद्ररहित सूखा हुआ तुम्बा है, उसे ले जाकर तालाब के पानी के ऊपर छोड़ देता है, क्या वह तुम्बा डूबेगा या तिरेगा?"

"प्रभु ! वह तुम्बा तो तैरेगा।" "अगर उसी तुम्बे में छिद्र कर दिया जाता है, तब क्या वह डूबेगा या तिरेगा?" "भगवन् ! वह तुम्बा तो पानी में डूब जायेगा।" तब महात्मा बुद्ध ने कहा–"हे भिक्षुओ ! जैसे अनेक छिद्रयुक्त हों या एक छिद्रयुक्त, छिद्रता उस तुम्बे को डुबोयेगा। ठीक उसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ, राग और द्वेषादि सभी दुर्गुण आत्मा का पतन करने वाले हैं, आत्मा को बीच मझधार में डुबोने वाले हैं। एक हो या अनेक आत्मा के सहज गुणों को नष्ट करने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि राग और द्वेष से आत्मा कर्मों से बोझिल हो जाती है। मनुष्य-मनुष्य में झगड़ा, द्वेष इतना कि उसके कुत्ते तक से नफरत हो जाती है। यदि वह दिखाई दे जाये तो उस पर पत्थरों की मार करने लग जाता है। यह सब राग-द्वेष के वशीभूत होकर होता है। इष्टोपदेश में कहा है–

"राग-द्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं यत् तत्त्वं नेतरो जनः॥"

–राग-द्वेष की तरंगों से जिसका मनरूपी जल चंचल नहीं होता, वह आत्म-तत्त्व को पहचान पाता है, इतर प्राणी नहीं। अर्थात् आत्मा को वही पहचानेगा, जो राग-द्वेष से ऊँचा उठ जायेगा। 'आचारांगसूत्र' में टीकाकार ने अतिसुन्दर उपमा देते हुए कहा है–कोई व्यक्ति घर के बाहर चबूतरे पर पैर धोता है और गीले पाँव भीतर चला जाता है, साफ-सुथरा फर्श भी धूल से गन्दा हो जाता है। जैसे गीले पाँव में धूल चिपट जाती है, ऐसे ही राग-द्वेष भी आत्मा से अतिशीघ्र चिपट जाते

हैं। बेहतर तो यही है, कमरे की रोजाना सफाई करनी चाहिए, नहीं तो कमरे में कचरा इकट्ठा हो जायेगा। आत्मारूपी कमरे की भी सफाई व्रत, नियम, सामायिक, संवर के द्वारा करनी चाहिए। इसीलिए कहा है कि जिन्होंने बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पा ली है, वे जिन कहलाते हैं।

जिन का स्वरूप

जिन-वीतराग की तरह जिनकी चर्या हो वे भी जिन या जिन के समान कहलाते हैं।

जिन के भेद-जिन कितने प्रकार के होते हैं?

जिन तीन प्रकार के होते हैं-अवधिज्ञानी जिन, मनःपर्यवज्ञानी जिन और केवलज्ञानी जिन।

'स्थानांगसूत्र' में कहा है-

"तओ जिणा पण्णत्ता-
ओहिनाण जिणे, मणपज्जवनाण जिणे।
केवलनाण जिणे।" *-स्था. ३*

-अवधिज्ञान के धारक भावितात्मा अणगार अवधिज्ञानी जिन होते हैं। मनःपर्यवज्ञानी जिन तथा चार घातिकर्मों का नाश कर वीतराग दशा प्राप्त केवलज्ञानी जिन।

(१) अवधिज्ञानी जिन-अवधि का अर्थ है-मर्यादा। अतएव जो मर्यादित अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है, वह अवधिज्ञान है अथवा द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन के उपकरण के बिना केवल अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान आत्मा से, रूपी पुद्‌गल द्रव्य को जानना अवधिज्ञान है। अवधि का अर्थ है-मर्यादा। ज्ञान का अर्थ क्या है? इसके लिए सूत्रकार कह रहे हैं-

"तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानम्।"

-अज्ञान का पूर्ण अभाव ही ज्ञान है, अथवा सुख एवं दुःख के हेतुओं से अपने आप को परिचित करना ही ज्ञान है। जैनाचार्यों ने ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा है-

"ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्।"

-जिसके द्वारा जाना जाये, वह ज्ञान है। जिससे जीव राग से विमुख होता है, श्रेय में अनुरक्त होता है एवं जिससे प्राणी जगत् के प्रति मैत्रीभाव बढ़ता है, उसी को

जिन-शासन में ज्ञान कहा जाता है अथवा जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, विषय-वासनाओं की ओर जाते हुए मन का निरोध होता है। परिणामस्वरूप आत्मा विशुद्ध होती है, उसी को जिन-शासन में ज्ञान कहा है। ऐसे ज्ञान को धारण करने वाले ज्ञानी हैं। अवधिज्ञान को जिन्होंने धारण किया वह अवधिज्ञानी जिन कहलाते हैं।

(२) **मनःपर्यवज्ञानी जिन**–जिस ज्ञान के द्वारा दूसरे के मन की पर्याय जानी जाये, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं अथवा अढाई द्वीप और समुद्रों में रहने वाले समनस्क जीवों के मनोगत भावों को प्रत्यक्ष करने वाला ज्ञान मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मुनियों को होता है, मुनियों में भी जो अप्रमादी हो, सम्यक् प्रकार से संयम का पालन करते हैं और जो चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर चुके हों। जिन्हें मनःपर्यवज्ञान हो गया है। ऐसे मुनि अढाई द्वीप, जम्बू द्वीप, धातकीखण्ड, अर्ध-पुष्कर द्वीप, आधे में पर्वत, आधे में मनुष्य, समस्त संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत भाव जानने वाले हैं। किसी जिज्ञासु ने प्रश्न कर दिया–"अढाई द्वीप की लम्बाई-चौड़ाई कितनी है?" उत्तर–"एक लाख योजन का जम्बू द्वीप है, जम्बू द्वीप के चारों ओर दो लाख योजन का लवण समुद्र है, लवण समुद्र के चारों ओर चार लाख योजन का धातकीखण्ड है, धातकीखण्ड के चारों तरफ आठ लाख योजन का कालोदधि समुद्र है, कालोदधि समुद्र के चारों ओर सोलह लाख योजन का पुष्कर द्वीप है। पैंतालीस लाख योजन का अढाई द्वीप है। मनःपर्यवज्ञानी इतने बड़े क्षेत्र में रहे प्राणियों के मनोगत भावों को जान लेते हैं, उन्हें मनःपर्यवज्ञानी जिन कहते हैं।"

(३) **केवलज्ञानी जिन**–आवरणों के पूर्णतया हट जाने पर त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों को पर्यायों सहित जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहा जाता है। रूपी और अरूपी, अन्दर और बाहर, दूर और समीप, अणु तथा महान् सभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों के सभी रूप इस ज्ञान के समक्ष 'करामलकवत्' उपस्थित हो जाते हैं। यह ज्ञान प्रतिपूर्ण है एवं अप्रतिपाती होता है, अर्थात् एक बार प्राप्त हो जाने पर फिर कभी नष्ट नहीं होता, अतः यह शाश्वत ज्ञान है। केवल का अर्थ है–सम्पूर्ण। अतएव जो सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभाव को जाने, वह केवलज्ञान है अथवा केवल का अर्थ है–शुद्ध। अतएव जो ज्ञानावरणीय कर्ममल के सर्वथा क्षय से आत्मा को उत्पन्न हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं अर्थात् केवल का अर्थ है–असहाय, निरपेक्ष। अतएव जिसके रहते अन्य कोई ज्ञान सहायक न रहे, उसे केवलज्ञान कहते हैं। साधारणतया जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान की समस्त बातों को जानने में समर्थ हैं, वे केवलज्ञानी जिन कहलाते हैं। जिन शब्द की बुद्धि के अनुसार व्याख्या हम पीछे कर आये हैं। अब इन्द्र शब्द की व्याख्या करनी है। •

इन्द्र कौन ?

भारतीय साहित्य में इन्द्र का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों ही परम्पराओं में इन्द्र के सम्बन्ध में विविध चर्चाएँ हैं। विशेषतः वैदिक साहित्य के ऋग्वेद में इन्द्र शब्द सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ है। तत्पश्चात् यजुर्वेद आदि विस्तृत वैदिक वाङ्मय में भी इसका प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है। संस्कृत के लौकिक साहित्य में भी यह भूरिशः प्रयुक्त होता रहा है। किसी भी शब्द की अन्तर्भावना व आत्मा की खोज के लिए व्युत्पत्ति शास्त्र व निर्वचन शास्त्र का आश्रय लेना अनिवार्य है। वैदिक शब्दों पर तो यह बात और भी अधिक लागू होती है। व्याकरण व निरुक्त के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थ भी वैदिक शब्दों का विश्लेषण करके पूर्णतया व्याख्या करते हैं। स्वामी दयानन्द ने 'यजुर्वेद भाष्य' में इसका प्रयोग किया है।

आचार्य पाणिनि ने इन्द्र शब्द को उणादि सूत्र से निपातित सिद्ध किया है। 'इदि' धातु से कर्त्ता में रक् प्रत्यय व नुमागम करने पर 'इन्द्र' शब्द व्युत्पन्न होता है–"इदिपरमैश्वर्येभ्वादिगणः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'इन्द्र' का अर्थ है–

"इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इति इन्द्रः।"

–जो सर्वोच्च ऐश्वर्य-सम्पन्न है, वह इन्द्र है। शासन करना भी ऐश्वर्य का द्योतक है। अतः शासनकर्त्ता शासक भी इन्द्र पद वाच्य है।

यास्क मुनि प्रणीत निरुक्त ग्रन्थ में इन्द्र का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि "इन्द्र का इन्द्र नाम इसलिए है कि वह इरा अर्थात् ब्रीहि आदि अन्य को विदीर्ण करता है, उसका दो भागों में विभाजन करता है, वर्षा करके ब्रीहि के बीज को गीला करके अंकुरित कर देता है।" 'इरादार' होने के कारण इन्द्र कहा जाता है। वर्षा से 'इरा' अर्थात् अन्न को देता है। 'इरादाता' होने के कारण इन्द्र कहलाता है। अन्न को वर्षा द्वारा धारण करता है। अतः 'ईराधारपिता' भी इन्द्र कहा जाता है। वर्षा से अन्न के बीज को तथा भूमि को फाड़ता है, अतः इन्द्र कहलाता है।

औपमन्यव आचार्य के मतानुसार–"सबका साक्षी व दर्शनीय होने से इन्द्र है। 'इन्दति' धातु से भी इन्द्र शब्द निष्पन्न होता है। शत्रुओं का विनाश करने वाला, भय द्वारा भगाने वाला, याजक व यजमानों का आदर करने वाला होने से इन्द्र है।"

जैन आचार्यों ने इन्द्र शब्द की व्याख्या करते हुए 'विशेषावश्यक भाष्य' में कहा है–

"इन्दो जीवो, सव्वोवलद्धि-भोग-परमेसरत्तराओ।"

–इन्द्र अर्थात् जीव, जो सर्वलब्धि-भोग परमेश्वरत्वयुक्त हो। परम ऐश्वर्य अर्थ में 'इदि' धातु है। महर्षि पतंजलि ने 'योगदर्शन' में कहा है–

"इन्दनाद् परमैश्वर्य योगादिन्द्रो।"

–जो परम ऐश्वर्य से सम्पन्न है, सर्वद्रव्य उपलब्धि, सर्वभोग उपलब्धि से युक्त है, वह है–परमेश्वर्ययुक्त 'इन्द्र'।

इस व्याख्या के अनुसार 'जीव' को अर्थात् 'आत्मा' को इन्द्र माना है। आत्मा अनन्त ऐश्वर्य-सम्पन्न है, अनन्त शक्ति-सम्पन्न है। संसार की कोई भी ऋद्धि-सिद्धि, लब्धि-उपलब्धि ऐसी नहीं है, जो आत्मा की पकड़ से बाहर हो, इसलिए आत्मा इन्द्र है। इसलिए आचार्य ने–'इन्दो जीवो' कहकर जैनदर्शन की मौलिक मान्यता को स्थापित किया है कि इन्द्र कोई व्यक्ति-विशेष या शक्ति-विशेष ही नहीं, किन्तु प्रत्येक आत्मा 'इन्द्र' है। आप भी, मैं भी। छोटे से छोटा जीव और महान् से महान् जीव शक्ति व सत्ता की दृष्टि से 'इन्द्र' कहा जा सकता है।

इन्द्र के विविध गुणों के कारण उसके अनेक स्वरूपों का विद्वानों ने अपने मतानुसार निरूपण किया है। इस कारण इन्द्र शब्द ईश्वरीय व्यापकता व्यक्त करता हुआ दिखाई देता है।

पाश्चात्य लेखक सर मोनियर विलियम रचित संस्कृत इंगलिश शब्द-कोश के अनुसार–

"Indra the God of the atmosphere and sky, the Indian-Jupitor, Pluvius or rain .... he fights against and conquers with his thunderbolt."

–इन्द्र को भारतीय जुपिटर कहा गया है। यह वर्षा का देवता है। अपने वज्र से यह अन्धकाररूपी दुष्टों को विजित कर लेता है। उसके कार्य मानवता के लिए कल्याणकारी हैं।

वैदिक वाङ्मय में इन्द्र को यज्ञ का प्रमुख देवता स्वीकार किया गया है– **"इन्द्रो वै यज्ञः इन्द्रो यज्ञस्य देवता।"** इसी मत को शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के ७/४३३ में कहा गया है–

इन्द्र का महाभिषेक

"अथेन्द्रो वै देवतया क्षत्रियो भवति
त्रैष्टुपश्छन्दसा पंचदशस्तोमेन, सोमो राज्येन बन्धुना ....।"

उपरोक्त मन्त्रानुसार इन्द्र का देवताओं द्वारा महाभिषेक हुआ। बेदों में प्रशंसित इन्द्र कोई व्यक्ति-विशेष नहीं, अपितु वैदिक आर्यों का दैवी चिरकालिक राष्ट्रपति है। वह दुष्टों का दमन करता है। ऋग्वेद ४/३०१ में कहा गया है–

"नकिरिन्द्रत्वदुत्तरो न ज्यायाम् अस्ति वृत्रहन् नकिरेवा यथात्वम्।"

–हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! हे बढ़ते हुए शत्रु और बाधक विघ्नों के नाश करने वाले राजन् ! हे प्रभो ! तुझसे बढ़कर, तेरा प्रतिपक्षी कोई नहीं। तुझसे बड़ा भी कोई नहीं। जैसा तू है, वैसा तेरे समान भी कोई नहीं।

पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर ने इन्द्र को उज्ज्वल दिन का देवता माना है। इसका अश्व सूर्य है।

प्रो. मैक्डानल ने वैदिक देवताओं का विवेचन करते हुए इन्द्र को इन शब्दों में प्रतिस्थापित किया है। वज्रपाणि इन्द्र, अन्तरिक्षस्थ दानवों को छिन्न-भिन्न करता है, योद्धा लोग निरन्तर उसे आमन्त्रित करते रहते हैं। वह उपासकों का युक्तिदाता तथा उनका अधिवक्ता है। एक स्थान पर सूर्य और इन्द्र का एकत्र आह्वान करके उन दोनों का तादृश और तद्रूपता स्थापित की है।

प्रो. विलसन ने कहा–हे इन्द्र ! जैसे ही तुम पैदा हुए, तुमने अपने बल हेतु सोम को पिया, माता (अदिति) ने तुम्हारी महत्ता की प्रतिपत्ति की इसलिए तुमने विशाल अन्तरिक्ष को परिव्याप्त किया हुआ है। तुमने युद्ध में देवों के लिए धन प्राप्त कराया है।

इन्द्र जगत् का स्वामी

'यजुर्वेद भाष्य' में कहा है–वह देवाधिदेव है। महान् ऐश्वर्य का आधार है, स्वयं भी ऐश्वर्यवान् है तथा ऐश्वर्य प्रदाता भी है। ऋतुओं का निर्माता है। कहा भी है–

"इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया, देवतयां गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्।"

–यहाँ पर इन्द्र को देवों में प्रधान तथा देवराज प्रतिपादित किया गया है।

सुख प्रदेश्वर इन्द्र

मानव इन्द्र को सुख देने वाला ईश्वर मानकर उससे सुख की कामना करता है। यजुर्वेद में निम्न मन्त्र द्वारा उसे परमैश्वर्य युक्त उसे स्वीकार किया गया है–

"अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यं।
वाचेन्द्रो बलनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम्॥"

—मंत्र के उत्तरार्ध का भाव है कि इन्द्र ने वाणी और बल से मानव के लिए इन्द्रियरूप को धारण किया।

सारांश—निष्कर्ष रूप में इन्द्र शब्द सूर्य, वायु, विद्युत्, परमेश्वर, जीवात्मा, योगी, विद्वान्, राजा, सेनापति, ऐश्वर्यवान् तथा ऐश्वर्य अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप में भारतीय संस्कृति में ओतप्रोत है। विभिन्न पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने इन्द्र को विश्वकर्मा, विश्वरूपा परमात्मापरक स्वरूप में स्थापित किया है।

जैनदर्शन में इन्द्र

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। प्रत्येक शब्द और विषय को अनेक दृष्टिकोण से समझता है और उसका सर्वांगीण विवेचन करता है। इसी शैली पर 'इन्द्र' शब्द पर विचार किया गया है। 'स्थानांगसूत्र' के प्रथम तीन सूत्रों में 'इन्द्र' शब्द के भिन्न-भिन्न रूप बताये हैं। जैसे-

नाम इन्द्र—किसी व्यक्ति का नाम 'इन्द्र' हो, जैसे—इन्द्रचन्द्र, इन्द्रसेन, इन्द्रकुमार इत्यादि।

स्थापना इन्द्र—किसी वस्तु, प्रतिमा, ध्वजा या वट-वृक्ष आदि में इन्द्र नाम की स्थापना की हो, जैसे—इन्द्रध्वज, इन्द्र की प्रतिमा, इन्द्र-वट इत्यादि।

द्रव्य इन्द्र—जो 'इन्द्र' बन चुका हो या बनने वाला हो अथवा इन्द्र के गुण, ऐश्वर्य आदि से रहित हो, वह द्रव्य इन्द्र है।

दूसरे सूत्र में पुनः इन्द्र तीन प्रकार के बताये हैं—

ज्ञान इन्द्र—जो आत्मा परम उत्कृष्ट अतिशय ज्ञानयुक्त है, वह है ज्ञानेन्द्र, केवलज्ञानी।

दर्शन इन्द्र—जो आत्मा परम निर्मल क्षायक सम्यक्त्व-सम्पन्न है, वह दर्शनेन्द्र कहलाता है।

चारित्र इन्द्र—जो अत्यन्त उज्ज्वल निर्दोष चारित्र-सम्पन्न, यथाख्यात चारित्रधारी आत्मा चारित्रेन्द्र कहलाता है।

इन्द्र के ये तीनों ही अर्थ-मानव देह स्थित आत्मा को लक्ष्य में रखकर बताये गये हैं। यह 'भाव इन्द्र' का स्वरूप है और यह इन्द्रत्व सिर्फ मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। इन्द्र के पुनः तीन प्रकार बताये हैं—

"तओ इंदा पण्णत्ता,
तं जहा–देविंदे, असुरिंदे, मणुस्सिंदे।"

देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुष्येन्द्र–देवताओं के इन्द्र को देवेन्द्र कहते हैं। देवों के चार भेद हैं–वैमानिक, ज्योतिष्क, भवनपति, वाणव्यन्तर। इसमें वैमानिक एवं ज्योतिष्क देवों के स्वामी देवेन्द्र हैं। जबकि भवनपति, वाणव्यन्तर देवों के स्वामी असुरेन्द्र हैं। जो राजाओं में सर्वश्रेष्ठ चक्रवर्ती सम्राट् हैं, उन्हें मनुष्येन्द्र कहते हैं।

यहाँ इन्द्र एक पद है, मनुष्यों में जैसे 'राजा' वैसे देवों में 'इन्द्र' है। 'स्थानांगसूत्र' के स्था. २, 'भगवतीसूत्र' के श. ३, उ. १ आदि आगमों में देव जाति के कुल ६४ इन्द्रों का वर्णन है, जैसे–वैमानिक देवों के १0 इन्द्र, ज्योतिष्क देवों के २ इन्द्र (सूर्य-चन्द्र), असुरकुमारों के १0 इन्द्र और व्यन्तर देवों के ३२ इन्द्र। इस प्रकार–'देव जाति' में कुल ६४ इन्द्रों का वर्णन आगमों में प्राप्त है। ये 'इन्द्र' एक पद-विशेष है, जो उस स्थान पर उत्पन्न होने के कारण उन्हें स्वतः उपलब्ध होता है, यह पद उपार्जित नहीं, एक उपलब्धि है, जो पूर्व-जन्म के तप आदि के कारण उपलब्ध होता है।

पूजा का महत्त्व और स्वरूप

पूजा भारतीय संस्कृति की एक आदर्श विशेषता है, यहाँ भगवान की पूजा होती है और गुरु की पूजा होती है, यहाँ अतिथि का भी आदर-सत्कार किया जाता है, यह अतिथि की पूजा ही है। परमात्मा सर्वश्रेष्ठ है, परमात्मा की पूजा से मन प्रसन्न हो जाता है, उसे संसार में सब ओर, चहुँ तरफ प्रसन्नता का अनुभव होता है। पूजा का श्रेष्ठ फल है चित्त की प्रसन्नता। निष्कपट भाव से प्रभु के प्रति समर्पित होना ही अखण्ड पूजा है।

जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने से समस्त उपसर्गों का क्षय हो जाता है। विघ्न वल्लियाँ जड़ मूल से उखड़ जाती हैं और चित्त प्रसन्न होता है।[1] भगवान के नाम में बहुत बड़ी शक्ति है, दुनिया के नाम झूठे हो सकते हैं लेकिन प्रभु का नाम सच्चा है। प्रभु की भक्ति, उपासना, पूजा, अर्चना इत्यादि करने से शान्ति मिलती है, दीर्घकाल से एकत्रित अशुभ परमाणु तथा कर्म झड़ जाते हैं। पूजा को भक्ति भी कहते हैं। आराधना, उपासना भी कहते हैं। भक्ति में शक्ति है।

"भक्तिः श्रेयानुबन्धिनी।"

---

१. उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्न वल्लयः।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे॥

–भक्ति कल्याणकारी है।

चारों गतियां में और चौरासी लाख जीव योनियों में घूमते हुए जीव के लिए 'भक्ति' महान् कल्याण करने वाली अमोघ शक्ति है, बिना भक्ति के कोई भी जीव अपना कल्याण करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता। शास्त्रों में कहा गया है कि "भक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों प्रकार के पुरुषार्थों की साधना करने वाला अत्युत्तम सद्गुण है।" भक्ति की महिमा कितनी अपरम्पार है कि इसके बल से जीवन संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है और संसाररूपी समुद्र से पार हो जाता है। 'गीता' के अन्दर वासुदेव श्रीकृष्ण कहते हैं–

"ये भजन्ति तु मां भक्त्या, मयि ते, तेषु चापि अहं।"

अर्थात् जो मुझको (भगवान को) भावपूर्ण रीति से भजते हैं, उनमें मैं विराजमान रहता हूँ और वे मेरे में समाये हुए होते हैं। भक्ति की परिभाषा करते हुए कहा है–

"भज्यते सेव्यते भगवदाकारतया, अन्तःकरणं क्रियते अनया इति भक्तिः।"

–जिसके द्वारा भजन किया जाये, अर्थात् जिस क्रिया द्वारा मन को प्रभुमय बना लिया जाये, उसे भक्ति कहते हैं।

जो मनुष्य मानव-शरीर प्राप्त करके भी ईश्वर-भक्ति नहीं करते हैं, वे मनुष्य नहीं हैं, किन्तु पशु हैं। ऐसे भक्तिहीन पुरुषों का जन्म बकरी के गले में रहे हुए स्तनों के तथा कान के समान निरर्थक ही होता है। भक्ति का प्रभाव निर्मल हृदय में ही प्रशस्त रूप से हुआ करता है, अतः हृदय में निर्मलता होने पर ही भक्ति का पूर्ण आनन्द आता है। हृदय की मलिनता होने पर भक्ति का सच्चा आनन्द नहीं आ सकता है। जैसे–साफ खेत में फसल का पौधा सरलतापूर्वक बढ़ता है और फल भी सुन्दर देता है, वैसे ही निर्मल हृदय में आराधित भक्ति भी भक्त को, अपूर्व आत्मिक आनन्द के साथ-साथ निर्मलता को बढ़ाती है। कषाययुक्त हृदय में भक्तिरूप बीज का पौधा पनप नहीं सकता है, अतः कषाय का ह्रास होना भक्ति के लिए एक आवश्यक उपादान है।

भक्ति से परिपूर्ण हृदय में भक्त के लिए सुन्दर-सुन्दर विचार-समूह अनायास ही उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे वर्षा काल में पानी के प्रभाव से हरियाली अपने आप ही अंकुरित हो जाती है अथवा जैसे कोयल की भाषा शक्ति बसन्त-ऋतु में अपने आप ही मुखरित हो जाती है अथवा जैसे सूर्य की किरण मात्र से ही सम्पूर्ण रात्रि का घनीभूत अन्धकार भी अपने आप ही विलीन हो जाता है, वैसे ही भक्तिवशात्

भक्त का मन भी ईश्वर स्वरूप को देखता हुआ अपने आप में ईश्वरत्व का विकास कर लेता है। भक्तिहीन पुरुष के विषय में गोस्वामी श्री तुलसीदास ने 'रामायण' में कहा है–

"तुलसी प्रभु के भजन बिन, मानुष गदहा होय।
रात-दिन लदता फिरे, घास न डाले कोय॥"

भक्त जन के हृदय में ईश्वर का वास ऐसे ही समझो, जैसे कि फूल में ही फल का निवास रहा होता है। जैनागमकार भक्ति की महिमा बताते हुए कहते हैं–

"भत्तीए जिनवराणं, खिज्जंति पुव्व संचियाइं कम्माइं।"

–अर्थात् जिनवरों की भक्ति से पूर्व संचित कर्म अपने आप ही यों क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं, जैसे कि मयूर की ध्वनि मात्र से ही चन्दन वृक्षों के चारों ओर लिपटे हुए सर्प अपने-अपने विलों में घुस जाते हैं। भक्ति में इतनी शक्ति होती है। भक्ति एक अमर गुण है और इसीलिए यह गुण आत्मा को भी अमर बना देता है, जैसे कि अंग्रेजी में भी कहा है–

"The Love to the God is Eternal."

–अर्थात् ईश्वर के प्रति प्रेम करना अमरत्व की ही आराधना करना है। भक्ति के प्रेम रस का आस्वादन कईयों ने लिया है। पौराणिक एवं आधुनिक दृष्टान्त उपलब्ध है। जैसे–रामायण आरण्यक काण्ड में भक्त हृदया भीलनी का वर्णन आता है–भगवान राम और लक्ष्मण सीता की खोज में जंगल में भ्रमण कर रहे थे। खोज करते-करते रास्ते में महर्षि-संन्यासियों के आश्रम आये। परन्तु प्रभु राम का मन संन्यासियों के आश्रम में नहीं लगा। उधर वन में शबरी नाम की एक भीलनी वन में अपनी कुटिया–झोंपड़ी डाले हुए रह रही थी। महर्षि नारद के द्वारा प्रभु राम की भक्ति में प्रेरित की हुई, प्रभु राम के नाम का सहारा लिए हुए प्रभु को पुकार रही है–

"मेरी झोंपड़ी के भाग आज खुल जानगे, राम आनगे।
खट्टे मीठे बेर चाव नाल खानगे, राम आनगे॥"

भगवान राम भक्ति-भावना से ओतप्रोत होकर शबरी की कुटिया की ओर खिंचे हुए चले आ रहे हैं। भक्त में शक्ति होनी चाहिए भगवान को खींचने की। अपने अन्दर पूर्ण विश्वास, दृढ़ आस्था, मनोबल मजबूत होना चाहिए। भगवान क्यों नहीं आयेंगे, शबरी क्या देखती है–प्रभु राम मेरी ओर ही आ रहे हैं। प्रभु को देखकर शबरी फूली नहीं समाई, अर्थात् शबरी की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। हर्षानन्द से

ओतप्रोत होकर प्रभु राम का स्वागत कर रही है। भगवान राम शबरी की कुटिया में पहुँच गये। घास-फूँस के बने हुए आसन पर प्रभु राम और लक्ष्मण विराजमान हो गये। शबरी प्रभु राम को बेर चख-चखकर दे रही है, कहीं मेरे प्रभु को खट्टे बेर न चले जायें। कुछ बेर राम लक्ष्मण को दे रहे हैं। लक्ष्मण मन में सोचता है–'इस शूद्रा नारी के झूठे बेर मैं खाऊँ ! नहीं।' प्रभु राम से आँख बचाकर वे बेर पीछे डाल दिये। परन्तु भगवान राम की दिव्य दृष्टि से क्या छिपने वाला था ? कुछ नहीं ! प्रभु राम ने लक्ष्मण को कहा–"हे लक्ष्मण, आज आपने एक भक्त-हृदया नारी का बहुत बड़ा अपमान किया है। जो बेर आज आपने पीछे डाले हैं, याद रखना यही बेर संजीवनी बूटी का रूप धारणकर युद्ध के समय में लगी शक्ति से तेरी मूर्च्छा को दूर करेंगे।" ऐसा ही हुआ। भगवान भक्त के वश में हैं। शबरी का यह कथानक हमें बहुत अच्छी शिक्षा प्रदान करता है, हम भी सच्चे अर्थों में भगवान के भक्त बनें निष्काम भक्ति के द्वारा। संक्षेप में और भी दृष्टान्त शिक्षाप्रद हैं–

"सुदामा के चावलों को श्रीकृष्ण महाराज द्वारा रुचिपूर्वक खाये जाना भी भक्ति का परिणाम है।" "हाथी और घड़ियाल–मगरमच्छ के युद्ध में गरुड़ की पीठ पर बैठकर विष्णु का पहुँचना भी भक्ति का एक उदाहरण है।" "द्रौपदी के चीर-हरण की कथा भी भक्तिरस को अमर बनाती है।" "अर्जुनमाली के शरीर में अवस्थित यक्ष की गदा से सुदर्शन सेठ का भयभीत नहीं होना भी भक्ति का ही प्रताप है।" "नन्दन मणियार के जीव द्वारा मेंढक के भव में देव-भव की प्राप्ति कर लेना क्या भक्ति का चमत्कार नहीं है ?"

"सेठ सुदर्शन ने अपने भक्ति-बल से सूली को भी सिंहासन का रूप दे दिया। भगवान महावीर के सच्चे भक्त थे।"

"मीरांबाई का विष पीना, सर्प को गले में डालना, फिर भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होना, क्या यह भक्ति का रूप शक्ति का प्रचण्ड प्रभाव नहीं है ?" "प्रचण्ड हिंसा के साधनों के स्वामी अंग्रेजों को भारत से निकालकर बाहर करना, क्या इसमें महात्मा गांधी की भक्ति का रहस्य नहीं छिपा हुआ है ?"

"भक्त प्रह्लाद जोकि हिरणाकुश राजा का बेटा था, राजा ने अपनी पूजा कराने के लिए, अपना नाम जपाने के लिए, अपने पुत्र प्रह्लाद को अनेक यातनाएँ दीं, परन्तु उनमें अनुत्तीर्ण रहा। आखिरकार भक्त प्रह्लाद की विजय हुई, यह सब भक्ति का चमत्कार था।"

भक्ति एक अनुपम और दिव्य आत्म-गुण है, जिसके बल पर आत्मा में–'अभयता-निर्भयता' जैसा गुणरत्न उत्पन्न होता है। भक्ति भक्त के सिर पर विजय

का मुकुट लगाती है, भक्ति भक्त को साक्षात् ईश्वर बना देती है। भक्ति का मार्ग बहुत बड़ा विस्तृत मार्ग है। जिनेन्द्र देव की उपासना करना, पूजा करना भक्ति है, जो ईश्वर को छोड़कर अन्य देवों की उपासना करता है वह कुछ नहीं जानता। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं–जैसे पेड़ की जड़ को सींचने से उसकी सब डालियाँ और पत्ते तृप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार एकमात्र परम पुरुष की भक्ति से सब देवी-देवता प्रसन्न हो जाते हैं।

'नारद-भक्तिसूत्र' के अन्दर एक सूत्र आता है–

"नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादि भेदः।"

–भक्ति के मार्ग में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का कोई भेद (महत्त्व) नहीं होता। हमारी भारतीय संस्कृति ने धन की, विद्या, रूप, जाति इत्यादि की पूजा नहीं की है, बल्कि गुणों की पूजा की है, भारतीय संस्कृति ने चारित्र गुण की पूजा की है। व्यक्ति की पूजा नहीं की है। भक्ति चारित्र का निर्माण करती है, भक्ति चारित्र की रक्षा करती है और भक्ति ही आत्म-मैल को धोकर आत्मा को स्फटिक के समान निर्मल बना देती है। जिनेन्द्र देव की वास्तव में पूजा है, भगवान के द्वारा बताये हुए मार्ग का अनुसरण करना, उनकी आज्ञा का पालन ही सच्ची पूजा है, सच्ची भक्ति है।

भक्ति के रूप

भक्ति के तीन रूप हैं–अमृता भक्ति, जला भक्ति, विषा भक्ति।

अमृता भक्ति–जो भक्ति आत्म-प्रसन्नता के लिए शान्त और निस्पृह भाव से की जाती है, वह अमृता भक्ति है।

जला भक्ति–जो भक्ति आत्म-ख्याति के लिए कामना और भय की भावना से अभिभूत होकर की जाती है, वह जला भक्ति है।

विषा भक्ति–जो भक्ति केवल प्रदर्शन, प्रशंसा और लोक-वंचना के लिए की जाती है, वह विषा भक्ति है।

"पूजा च द्रव्य भाव संकोचः।"

–द्रव्य और भाव का संकोच करना ही पूजा है। पूजा कितने प्रकार की है?

पूजा के भेद

पूजा के दो रूप हैं–द्रव्य पूजा और भाव पूजा।

द्रव्य पूजा

"वचोविग्रह संकोचो, द्रव्य पूजा निगद्यते।"

–वाणी और शरीर का संकोच करना ही द्रव्य पूजा है। द्रव्य पूजा करने में अनेक पदार्थों का योग मिलाना पड़ता है तथा आरम्भ-समारम्भ करना भी आवश्यक हो जाता है। क्योंकि द्रव्य पूजा करने वाले अनेक प्रकार के पदार्थ काम में लेते हैं, जैसे–फल, फूल, चावल, कुमकुम, धूपबत्ती आदि अन्य प्रकार के खाद्य पदार्थ आदि साधनों के द्वारा जो पूजा की जाती है, वह द्रव्य पूजा कहलाती है।

भाव पूजा

"तत्र मानस संकोचो, भाव पूजा पुरातनैः।"

–मन का संकोच करना भाव पूजा है। जिनेन्द्र देव पर पूर्ण श्रद्धा करना, उनके वचनों पर विश्वास रखते हुए उनके निर्देशित मार्ग पर चलना ही भाव पूजा है।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्र जी महाराज ने वीतराग स्तुति करते हुए कहा–

"तव सपर्यास्तवाज्ञा परिपालनम्।"

–हे भगवन् ! आपकी वास्तविक सेवा-पूजा तो आपकी आज्ञाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करना ही है। भगवान महावीर ने छह काया के जीवों की रक्षा का विधान फरमाया है। षट्काया के जीवों की रक्षा वास्तव में भाव पूजा है।

द्रव्य पूजा की अपेक्षा भाव पूजा का महत्त्व है। अधिकतर देखा जाता है, संसार में इंसान द्रव्य पूजा अथवा जड़ पूजा को महत्त्व देता है। जड़ पूजा का अर्थ है–चित्र व पत्थर आदि की प्रतिमा की पूजा करना। परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है, क्या जड़ मूर्ति की अपेक्षा चेतन मूर्ति (साधु-सन्त) की पूजा (उपासना) अधिक श्रेष्ठ है ? हाँ, श्रेष्ट है। 'श्रीमद् भागवत् पुराण' में लिखा गया है–

"अहं सर्वेषु भूतेषु, भूत्वात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मा मर्त्यः, कुरुतेऽर्चा विडम्बनाम्॥"

अर्थात् मैं आज्ञा बनकर सब प्राणियों में सदा अवस्थित हूँ किन्तु उसकी (यानि मेरी) उपेक्षा करके मनुष्य जड़ मूर्ति की पूजा की विडम्बना करता है। कैसे ? इसके लिए आचार्य कहते हैं–

उदाहरण–प्राचीनकाल की घटना है। एक भगवान का परम भक्त था। एक बार गंगा जी में स्नान करने गया। गंगा से वापस घर की ओर गंगाजल लेकर लौट

रहा था, मार्ग में उसे एक साधु बीमार मिला, उसने भक्त से गंगाजल माँगा। परन्तु उस भक्त ने गंगाजल नहीं दिया, क्योंकि उसे जल शिवलिंग पर चढ़ाना था, उस साधु को जल न देकर अपने घर में आ गया, घर आकर मन्दिर में गया, भगवान की मूर्ति पर जल चढ़ाया और पूजा-भक्ति की और घर जाकर सो गया। अर्ध-रात्रि के समय उस भक्त को स्वप्न में भगवान प्रकट एवं दर्शन दे रहे हैं। भगवान कह रहे हैं–"हे भक्त ! मुझे भयंकर बुखार आ रहा है।" भक्त ने पूछा–"भगवन् ! आपको बुखार कैसे आ सकता है?" "भक्त कल जिस साधु को तुमने जल नहीं पिलाया, वह मेरा ही स्वरूप था, अर्थात् मेरा उस साधु के स्वरूप में स्वरूप मिला हुआ था।" भगवान कह रहे हैं–"हे भक्त ! जो जड़ मूर्तियों की अपेक्षा मेरी चेतन मूर्तियों की पूजा–सेवा करता है, वह भक्त मुझे अतिप्रिय लगता है।" स्वप्न के बाद प्रातःकाल उठते ही उसने उस साधु की खोज की, मिल गया और उसकी खूब सेवा-भक्ति की। वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। इसलिए आचार्य कहते हैं–"जड़ मूर्ति की पूजा करने का लाभ नहीं है।" महात्मा कबीर ने भी अपनी वाणी में फरमाया है–

"पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूं पहाड़।
ताते यह चक्की भली, पीस खाए संसार॥"

सन्त बुल्लेशाह कहते हैं–

"मक्के जाके इहा पूजे, गंगा जाके पाणी।
बुल्लेशाह ऐसा करणी कर चलगो, मिट जाय आणी-जाणी॥"

जैनधर्म में द्रव्य पूजा को इतना महत्त्व नहीं दिया है, भाव पूजा को महत्त्व दिया है। भाव पूजा, द्रव्य पूजा से श्रेष्ठ है, इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है, उसे अखण्ड पूजा भी कहते हैं, अखण्ड पूजा का महत्त्व बताते हुए अध्यात्मयोगी आनन्दघन अपनी वाणी में फरमा रहे हैं–

"चित्त प्रसन्न रे पूजन फल कह्युं, पूजा अखण्डित एह।"

–भगवान की सेवा-पूजा का फल चित्त की प्रसन्नता-स्वच्छता कहा है। हृदय की पवित्रता-प्रसन्नता ही भगवान की अखण्ड पूजा है। किसी कवि ने भी कहा है–

"पूजा रोज रचालो मन में, सत्य भगवान की।
पापी से भी पापियों की, जिन्दगी हो शान की॥"

देवाधिदेव भगवान महावीर ने 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में एक सूत्र दिया है–

"सच्चं खु भगवं।"

–सत्य ही भगवान है। जहाँ सत्य है, वहीं पर भगवान है। सत्य का संग करो, जो सत्य का संग करोगे तो भगवान के दर्शन हो जायेंगे। यदि मत का संग करोगे तो सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। सत्य के आगे संसार की महान् शक्ति, जिसे भगवान की शक्ति कहते हैं, वह नतमस्तक हो जाया करती है। जब तक सत्याग्रह नहीं करोगे तो तब तक कुछ नहीं मिल सकता। जो कुछ मिलता है, सत्य के द्वारा ही मिलेगा। यदि भगवान की वास्तविक पूजा है, तो सत्य का उच्चारण करना ही है। सत्यभाषी जिनेन्द्र देव की पूजा का लाभ ले रहा है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं–जो जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है, उसकी पूजा तो स्वयं देव और देवांगनाएँ ही अत्यन्त हर्षित होती हुई, मुस्कराये चेहरे से करती हैं। केवल यही पूजा नहीं है, वृक्ष से तोड़कर लाये हुए फूलों से, जो उनकी पूजा की जाये, नहीं वरन् अन्तरात्मा की प्रगाढ़ श्रद्धारूपी प्रसुमनों से जो जिनेन्द्र भगवान की पूजा है। सूत्रकार लिखते हैं–

"भक्त्या तुष्यंति केवलम्।"

–भगवान तो केवल श्रद्धा-भक्ति से ही प्रसन्न हो जाते हैं। भगवान महावीर ने फरमाया है–

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥"

–दशवैकालिकसूत्र

–धर्म मंगल है, उत्कृष्ट है. कल्याणकारी है, धर्म के तीन रूप हैं–अहिंसा, संयम और तप। इनमें जिनका मन लगा रहता है जो धर्म से मुक्त होकर भगवान की भक्ति करता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। जिनेन्द्र भगवान की सुबह-शाम पूजा करने वाले संत-मुनिराज रात-दिन अन्य प्राणियों द्वारा वन्दन किये जाते हैं। यह भाव पूजा का महत्त्व है।

पूजा के आठ पवित्र फूल

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योगबिन्दु की टीका' में पूजा के आठ फूल बताते हुए फरमाया है–

"अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसंगता।
गुरु भक्तिस्तपो ज्ञानं, अष्टपुष्पानि प्रचक्षते॥"

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निसंगता (अनासक्ति), गुरु-भक्ति, तप और ज्ञान, ये आठ पूजा के फूल फरमाये हैं। संक्षिप्त में इन पर प्रकाश डालेंगे।

१. अहिंसा

तीन करण और तीन योग से किसी भी जीव का घात नहीं करना अहिंसा कहलाती है। शास्त्रकार कहते हैं–

"सुभो जो परिणामो सा अहिंसा।"

–निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का शुभ परिणाम ही अहिंसा है। प्रत्येक धर्म ने अहिंसा को महत्त्व दिया है। अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा अमृत है।

आचार्य हेमचन्द्र जी महाराज 'योगशास्त्र' में अहिंसा का स्वरूप बताते हुए फरमा रहे हैं–

"मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी।"

–अहिंसा माता के तुल्य समस्त प्राणियों का हित करने वाली है।

"अहिंसैव हि संसार मरावमृत सारिणी।"

–संसाररूपी मरुस्थल में अहिंसा ही एक अमृत का झरना है।

"अहिंसा दुःख दावाग्नि प्रावृषेण्य घनावली।"

–अहिंसा दुःखरूपी दावानल को विनष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों की घनघोर घटा है।

"भव भ्रमिरुगार्त्ता नामऽहिंसा परमौषधी।"

–अहिंसा भवभ्रमणरूपी रोग से पीड़ितजनों के लिए उत्तम औषधि है।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने 'आवश्यकनिर्युक्ति' में कहा है–

"तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि।
जह तह जयम्मि जाणसु धम्ममहिंसा समं नत्थि॥"

अर्थात् सुमेरु से ऊँचा कोई पर्वत नहीं है और आकाश से विशाल दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार अहिंसा के समान संसार में कोई दूसरा धर्म नहीं है। जैसे दही को मथकर मक्खन निकाला जाता है, उसी प्रकार जैनधर्म ने सब मतों का मन्थन करके धर्म का नवनीत निकाला है और वह है अहिंसा।

अहिंसा जीवन का एक सरस संगीत है। उसकी सुमधुर स्वर-लहरियाँ जन-जन के जीवन को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण प्राणी-जगत् को आनन्द विभोर बना देती हैं। अहिंसा जीवन सरसब्ज बनाने वाली एक महान् सरिता है। जब वह सरिता मन,

वचन और काया में इठलाती हुई कलकल-छलछल करती हुई प्रभावित होती है, तब मानव के जीवन में स्नेह सद्भावना की हरियाली लहलहाने लगती है, अहिंसा से अनुकम्पा के अंकुर फूटने लगते हैं, दया के सुरभित सुमन खिलने लगते हैं और विश्व-मैत्री के मधुर फल जन-जन के मन को आकर्षित करने लगते हैं। अहिंसा से जीवन रमणीय एवं दर्शनीय बनता है।

अहिंसा एक अमोघ शक्ति है। अहिंसा एक विराट् शक्ति है, जिसके सम्मुख संसार की सभी संहारक शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। अहिंसा संस्कृति का प्राण है, धर्म और दर्शन का मूल आधार है। अहिंसा अत्यन्त हितकारी है, वह सभी के साथ मैत्री सम्बन्ध संस्थापित करती है, आत्मा साम्य की विराट् दृष्टि प्रदान करती है। अहिंसा सभी से उत्तम है। वह ऐसा पावन और पवित्र धर्म है। मानव को अहिंसा का महत्त्व समझकर चाहिए कि–

"न हिंस्यात् सर्व भूतानि, मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत् केनचित्॥"

–महाभारत, शान्ति पर्व

अर्थात् वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, क्योंकि जैसे हमें अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने प्राण प्यारे हैं। किसी के प्राणों का नाश करना कभी भी धर्म नहीं हो सकता। भयाकुल प्राणी के लिए शरण की प्राप्ति श्रेष्ठ होती है, वैसे ही प्राणियों के लिए भगवती अहिंसा की शरण विशेष रूप से हितकर है। यह पूजा का पहला फूल है, जिसकी हम संक्षेप में चर्चा कर आये हैं। अब दूसरे फूल–सत्य की चर्चा करनी है।

२. सत्य

जो शब्द सज्जनता का पावन संदेश प्रदान करता है, सौजन्य भावना को उद्बुद्ध करता है और जो यथार्थ व्यवहार का पुनीत है, वह सत्य है। आचार्य शान्तिसूरि जी 'श्री उत्तराध्ययनसूत्र की टीका' में फरमा रहे हैं–

"सद्भ्यो हितं सत्यम्।"

–जिस शब्द के प्रयोग से जन-जन का हित होता है, कल्याण होता है, आध्यात्मिक अभ्युदय होता है, वह सत्य है।

'गीता' में श्रीकृष्ण ने कहा है–

"नासतो विद्यते भावो, ना भावो विद्यते सतः।"

—सत् वह है, जिसका कभी भी नाश नहीं होता और जो नष्ट हो जाता है वह सत् नहीं है। जो असत् है, उसका कभी जन्म नहीं होता। वह कभी अस्तित्व में नहीं आता और जो सत् है, वह कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। सत् हर समय विद्यमान रहता है। वह अतीतकाल में भी था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। वह त्रिकालवर्ती है।

जैनदर्शन के महान् तत्त्वचिन्तक आचार्य उमास्वाति ने सत् की परिभाषा करते हुए लिखा है—

"उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं सत्।"

—जो पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है। जो वस्तु जैसी देखी है या सुनी व समझी है, उस वस्तु को जन-जन के हित के लिए उसी रूप में कहना, वचन के द्वारा उस तथ्य को प्रकट करना सत्य है।

एक जिज्ञासु ने भगवान महावीर से पूछा—"इस विराट् विश्व में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सारपूर्ण है?"

भगवान ने कहा—

"सच्चं लोगम्मि सारभूयं।"

—इस लोक में सत्य ही सारभूत है। सत्यरहित जो भी है, वह निस्सार है, क्योंकि सत्य समस्त भावों का प्रकाश करने वाला है।" सत्य की महत्ता प्रदर्शित करते हुए भगवान महावीर ने कहा—"सत्य महासागर से भी अधिकतम गम्भीर है, चन्द्र से भी अधिक सौम्य है और सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी है।"

भारतीय संस्कृति के महान् चिन्तकों ने कहा है—सत्य सुन्दर हो, कल्याणकारी हो। जो केवल सुन्दर ही है और कल्याणकारी नहीं है, तो वस्तुतः वह सत्य नहीं है। इसलिए 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कहा गया है। सत्य एक ऐसी साधना है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार उसे ग्रहण कर सकता है। 'स्कन्द पुराण' में सत्य वचन की चर्चा करते हुए कहते हैं—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥"

अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, किन्तु अप्रिय सत्य कभी मत बोलो और प्रिय असत्य भी मत बोलो। परहित में वाक् और मन का यथार्थ भाव ही सत्य है। सत्य प्रतिष्ठित व्यक्ति को वाक् सिद्धि प्राप्त होती है। यदि कोई व्यक्ति बारह वर्ष तक पूर्ण रूप से सत्यवादी रहे तो उसकी प्रत्येक बात यथार्थ होगी।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा-जो व्यक्ति सत्य को जानता है तथा मन, वचन, काया से सत्य का आचरण करता है, वह परमात्मा को पहचानता है। एक दिन वह मुक्ति को भी वरण कर सकता है। सत्य का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। सत्य के बारे में और क्या लिखूँ? अल्प प्रज्ञा के द्वारा जो समझा, वो लिख दिया है। पूजा के दूसरे फूल की चर्चा है। सत्य को जीवन में धारण करना ही भगवान की पूजा है। शास्त्रकार अब आगे अचौर्य नाम के तीसरे फूल की चर्चा कर रहे हैं।

३. अचौर्य

कोई भी साधक गाँव में, नगर में, अरण्य में थोड़ी या बहुत, छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव किसी भी वस्तु को बिना दिये हुए न ले, स्वामी की आज्ञा के बिना न ले, न दूसरों को इस प्रकार अदत्त लेने की प्रेरणा दे और न अदत्त ग्रहण का अनुमोदन करे, वह अचौर्य जैनशास्त्रों में अदत्तादान एवं अस्तेय शब्द आते हैं, इनका अर्थ एक ही है।

आचार्य सोमप्रभसूरि ने 'सिन्दूर प्रकरण' में अस्तेय का महत्त्व बताते हुए कहा है-"जो अदत्त ग्रहण नहीं करता, सिद्धि उसकी अभिलाषा करती है, समृद्धि उसे स्वीकार करती है, कीर्ति उसके पास आती है, किसी भी प्रकार की सांसारिक पीड़ा उसे नहीं होती, सुगति उसकी स्पृहा करती है, दुर्गति उसे निहारती भी नहीं और विपत्ति उसका परित्याग कर देती है।"

'योगदर्शन' में महर्षि पतंजलि ने कहा है-

"अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं।"

-अस्तेय व्रत का पालन करने से उसे सर्वरत्न प्राप्त होते हैं, उसे समस्त अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं। अचौर्य महाव्रत के अभाव में मानव, मानव न रहकर दानव बन जाता है। वह पाशविक जीवन जीने लगता है। यदि मानव-समाज में इस प्रकार पाशविकता पनपेगी तो सर्वत्र अराजकता का साम्राज्य हो जायेगा। अस्तेय व्रत की इसलिए आवश्यकता है कि वह मानव को दिव्य जीवन जीने के लिए उत्प्रेरित करता है। स्वयं की आवश्यकताओं को वह न्याय-नीति से और योग्य पुरुषार्थ से प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। अचौर्य महाव्रत की रक्षा के लिए श्रमण को पुनः-पुनः आज्ञा ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिए। गृहस्थ की कोई भी चीज वह बिना उसकी आज्ञा के ग्रहण न करे और जितने समय तक रखने की वह आज्ञा दे, उतने समय तक ही रखे। यदि किसी वस्तु के लिए गृहस्थ आज्ञा भी

दे दे तो भी यदि वह साधु-मर्यादा के अनुकूल नहीं है तो साधु उस वस्तु को ग्रहण न करे। अगर कोई वस्तु ग्रहण करनी भी है तो शक्रेन्द्र की ही आज्ञा लेकर वह वस्तु ग्रहण करे। किन्तु बिना आज्ञा के न कोई वस्तु ग्रहण करे और न उसका उपयोग ही करे। जो ऐसा नहीं करता है, वह अचौर्य व्रत की आराधना कर रहा है। अब तीसरे फूल की चर्चा का विश्लेषण आपके समक्ष आ चुका है। अब हम चौथे फूल की चर्चा करेंगे, उस चौथे फूल का नाम है–ब्रह्मचर्य।

४. ब्रह्मचर्य

महाव्रतों की परिगणना में यद्यपि ब्रह्मचर्य का चतुर्थ क्रम है, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से यह सबसे श्रेष्ठ है। पूजा के आठ पुष्पों में ब्रह्मचर्य भी चतुर्थ पुष्प है। भगवान महावीर ने 'तं बंभं भगवंतं' कहकर ब्रह्मचर्य स्वयं भगवान है। जैसे श्रमणों में तीर्थंकर सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।

"तवसे वा उत्तम बंभचेरं।"

–एक ब्रह्मचर्य व्रत की जो आराधना कर लेता है, वह सभी व्रत नियमों की आराधना कर लेता है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ

ब्रह्मचर्य में दो शब्द हैं- ब्रह्म + चर्य = ब्रह्मचर्य। ब्रह्म का अर्थ है–आत्मा तथा चर्य का अर्थ है–रमण करना। जो आत्मा में रमण करता है, वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म शब्द के तीन रूप हैं–वीर्य, आत्मा और विद्या। चर्म शब्द के भी तीन रूप हैं–रक्षण, रमण और अध्ययन। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं–वीर्य यानि (शक्ति) का रक्षण, आत्मा में रमण करना और विद्या का अध्ययन करना। महर्षि पंतजलि ने 'योगदर्शन' में ब्रह्मचर्य की परिभाषा करते हुए कहा है–

"ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः।"

–ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना कर लेने पर अपूर्व मानसिक शक्ति और शरीर बल प्राप्त होता है। जब तक व्यक्ति अपने वीर्य और शक्ति का रक्षण नहीं करता, वहाँ तक शरीर ओजस्वी तेजस्वी नहीं बनता। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से शारीरिक शक्ति का केन्द्र वीर्य और शुक्र है। शरीर के इस महत्त्वपूर्ण अंश को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी बनाना ब्रह्मचर्य है। वीर्य के विनाश से जीवन का सर्वतोमुखी पतन होता है।

ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ है आत्म-रमण। ब्रह्मचारी साधक कामवासना से अपने आप को मुक्त रखता है। उसका मन निर्विकारी होता है। वह वासना का त्याग करता है और वासना-त्याग से सिद्धि है–

"वासना प्रक्षयो मोक्षः।"

'धर्मबिन्दु उपनिषद्' में कहा है–यदि मोक्ष चाहते हो तो वासना के बहते हुए तीव्र वेग को रोको, अर्थात् वासना के तीव्र वेग को रोकना ही मोक्ष है। वासना को उद्दीप्त करने वाले साधनों का भी त्याग करना होता है। वासना से आत्मा में मलिनता आती है और ब्रह्मचर्य का अपूर्व तेज उससे क्षीण हो जाता है। ब्रह्मचारी साधक आत्मा के शुद्ध भाव में रमण करता है।

ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ है–विद्याध्ययन। ब्रह्मचर्य से तेज, धृति, साहस और विद्या की उपलब्धि होती है। वह शक्ति का स्रोत है। उसमें मन में बल, साहस, निर्भयता, प्रसन्नता और शरीर में अपूर्व तेजस्विता आती है। ब्रह्मचर्य की बहुत-सी व्याख्याएँ हैं। लेकिन जितना मैं समझ पाया हूँ, उतना मैंने अपनी लेखनी के द्वारा लिख दिया है। ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। मैंने चौथे फूल ब्रह्मचर्य की अल्प शब्दों के द्वारा चर्चा की है। पूजा के आठ फूलों में पाँचवाँ फूल है–निःसंगता, जिसे अनासक्ति कहते हैं।

५. निःसंगता

अनासक्ति, निःसंगता, निस्पृहभाव, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। साधक जब से साधु बनता है, तभी से अपने घर-बार, कुटुम्ब, स्त्री-पुत्र, सगे-सम्बन्धी तथा मित्रों और स्नेहीजनों का संग सर्वथा छोड़ देता है, परन्तु–"अप्पाणं वोसिरामि" कहने से वाणी से तो वह सांसारिक जनों का संसर्ग या संग छोड़ देता है, मगर मन से छोड़ता है या नहीं? मन के किसी कोने में भी अपने पुत्र, भाई-बहन या परिवार के प्रति उसका स्नेह राग है, आसक्ति है, तो वह संगत्याग वाणी से हुआ है, मन से नहीं और जब तक मन से संगत्याग नहीं होता, तब तक वह औपचारिक त्याग है, अन्तःकरण से त्याग नहीं है और जब तक अन्तःकरण से संगत्याग नहीं होता, निःसंगता नहीं आती और जब तक निःसंगता नहीं आती साधक को अपनी साधना भ्रष्ट होने का भय है, अनेक दोष भी पैदा हो सकते हैं। एक संस्कृत के महान् आचार्य ने निःसंगता पर प्रकाश डालते हुए कहा है–

"निःसंगता मुक्तिपदं यतीनां, संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढ योगोऽपि निपात्यतेऽधः, संगेन योगी किमुनाल्पसिद्धिः॥"

अर्थात् "साधकों के लिए निःसंगता ही मुक्ति-पथ है, क्योंकि संग (आसक्ति-अनुराग) से अनेक दोष पैदा हो सकते हैं। बड़े-बड़े अध्यात्मयोगी भी संग के कारण पतन के गर्त्त में गिर गये हैं। फिर अल्प सिद्धि वाले साधारण साधक की तो बात ही क्या? वस्तुतः निःसंगता ही सच्चे साधक जीवन की उन्नति का मूल द्वार है। निःसंगता का अर्थ है–संसार के पौद्गलिक वातावरण से रहित होना, स्पृह भाव का त्याग करके, निःस्पृह भाव में आना ही निःसंगता है। उपाध्याय यशोविजय जी महाराज 'ज्ञानसार' में स्पृहा एवं निःस्पृह की चर्चा करते फरमा रहे हैं–

"परस्पृहा महादुःखं, निःस्पृहत्व महासुखम्।
एतदुक्तं समासेन, लक्षणं सुख-दुःखयोः॥"

अर्थात् पुद्गल की स्पृहा करना संसार का महादुःख है, जबकि निःस्पृहता में सुख की अक्षय निधि छिपी हुई है, श्रमण जितना निःस्पृह होगा उतना ही सुखी होगा। सच्चे साधक की धारणा है–मेरे पास सब कुछ है। मेरी आत्मा सुख और शान्ति से परिपूर्ण है। मुझे किसी बात की कमी नहीं, मेरी आत्मा में जो सर्वोत्तम सुख भरा हुआ है, दुनिया में ऐसा सुख कहीं नहीं ! तब भला मैं इसकी स्पृहा क्यों करूँ? ऐसी भावना से निज आत्मा को भावित रखना चाहिए। मैं आत्मा हूँ, चैतन्य स्वरूप हूँ, सुख से परिपूर्ण हूँ। जड़ पौद्गलिक पदार्थों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भला, मुझे उसकी स्पृहा क्यों करनी चाहिए? उपाध्याय यशोविजय जी 'ज्ञानसार' में कहते हैं–

"छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण, स्पृहाविषलतां बुधाः।
मुख शोषं च मूर्च्छां च, दैन्यं यच्छति यत्फलम्॥"

अर्थात् अध्यात्म-ज्ञानी पण्डित स्पृहारूपी विष-लता को ज्ञानरूपी दांति से काटते हैं, जो स्पृहा विष-लता के फलरूप, मुख का सूखना, मूर्च्छा पाना और दीनता प्रदान करते हैं। यह स्पृहारूपी नागिनी संसार के प्राणियों को डस रही है। इंसान में स्पृहा का अधिक बोलबोला है। चाहे धन-धान्य की स्पृहा, गंध-सुगन्ध की स्पृहा, रंग-रूप की स्पृहा, कमनीय-षोडसी रमणियों की स्पृहा, मान-सन्मान और आदर-प्रतिष्ठा की स्पृहा, न जाने किस-किसकी स्पृहा के विष के फुहारे निरन्तर उड़ते रहते हैं। मानव पागलपन में आया हुआ दिन-रात दुःख और कष्टों से ग्रसित होता जा रहा है। क्या तीव्र स्पृहा के बन्धन से जीव मुक्त नहीं हो सकता? अवश्य मुक्त हो सकता है। यदि ज्ञान का मार्ग अपनाये तो, उसके बल पर वह विषय-वासना की लालसा को नियंत्रित कर सकता है। ज्ञानमार्ग का सहयोग लेना मतलब जड़ और चेतन के भेद का यथार्थ ज्ञान होना, स्पृहाजन्य अशान्ति की अकुलाहट होना और स्पृहा की पूर्ति से

प्राप्त सुख के प्रति मन में पूर्णरूपेण उदासीनता होना ही निःसंगता है। अगर मन में आसक्ति है तो वह परिभ्रमण का कारण है। आसक्ति सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के पदार्थों पर हो सकती है। पदार्थों के परित्याग के साथ ही आसक्ति का परित्याग आवश्यक है। इच्छा-आकांक्षाओं पर नियन्त्रण के लिए अनासक्त होना आवश्यक है। जहाँ अनासक्ति है, वहाँ निःस्पृह भाव आ जाता है। यही निःसंगता है। निःसंग होकर भगवान की सच्ची पूजा करना ही निःसंगता है। पूजा के आठ फूलों में पाँचवें फूल की चर्चा संक्षिप्त शब्दों में सम्मुख आ गई है। अब हम छटे फूल–गुरु-भक्ति की चर्चा अल्प शब्दों के द्वारा करेंगे।

६. गुरु-भक्ति

'योगशास्त्र' में आचार्य श्री हेमचन्द्र जी महाराज ने गुरु-भक्ति पर प्रकाश डालते हुए कहा है–"समस्त कार्यों से निवृत्त होकर वह विशुद्ध आत्मा–श्रावक गुरु की सेवा में उपस्थित होकर गुरुदेव को भक्तिपूर्वक वन्दन नमस्कार करे और अपने ग्रहण किये हुए प्रत्याख्यान को उनके समक्ष प्रकट करे।" आचार्य कहते हैं–"गुरु को देखते ही खड़े हो जाना, आने पर सामने जाना, दूर से ही मस्तक पर अंजलि जोड़ना, बैठने के लिए स्वयं आसन प्रदान करना, उनके गमन करने पर कुछ दूर तक अनुगमन करना, यह सब गुरु की भक्ति है। गुरु पर हमारी अटूट श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए। उनकी आज्ञा सदा शिरोधार्य करनी चाहिए। गुरु-भक्ति का एक अत्यन्त श्रेष्ठ प्राचीन उदाहरण आपके समक्ष रख रहा हूँ।

उदाहरण–सनातन आम्नाय के महान् आचार्य शंकर हुए हैं। एक बार आचार्य शंकर नदी के तट पर जो एक आश्रम था। वहाँ का शान्त एकान्त वातावरण था। जहाँ उनके शिष्य-समूह अध्ययन-अध्यापन में तल्लीन थे। इन शिष्यों में ही उनके अनन्य शिष्य सनन्दन था। जो पूर्ण रूप से गुरु-सेवा, गुरु-आज्ञा का पालन करने वाला था। सदैव गुरु के प्रति विनम्र शील था।

"गुरोराज्ञा बलीयसी।"

–गुरु की आज्ञा बलवती होती है, इसके अनुसार जीवन चलाने वाला था। ध्यान, समाधि एवं स्वाध्याय के लिए पूर्ण समर्पित था। एक बार सनन्दन तन्मयता के साथ नदी के उस किनारे बैठा अध्ययनरत था। आचार्य शंकर के महान् ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' के ऊपर उनका गहन चिन्तन-मनन एवं मंथन चल रहा था। अकस्मात् उन्हें आभास हुआ कि नदी पार से गुरुदेव उन्हें व्यग्रता के साथ आह्वान कर रहे हैं। गुरु बुलायें और शिष्य न जाये, यह असम्भव था। फलतः वे पूर्ण वेग से

प्रवहमान उफनती नदी में कूद पड़े। तभी एक अद्‌भुत चमत्कार घटित हुआ। नदी की फेनोद्‌वेलित अपार जलराशि पर कमल-पुष्पों की एक अटूट शृंखला प्रकट हो गई। जिनके ऊपर सहजता से अपने पाँव रखते हुए वे चलकर नदी के उस पार गुरु के सन्निकट पहुँच गये। यह सब गुरु की वरद् कृपा का आशीर्वाद, चमत्कार था। गुरुदेव ने जब यह सुना तो उन्हें छाती से लगा लिया और गद्‌गद कण्ठ से आशीर्वाद दिया--"जाओ वत्स ! तुम्हारा सदैव कल्याण हो, तुम्हारा अध्ययन सार्थक हो, तुम्हारी ब्रह्मविद्या भी फलवती हो। पद्मों पर पाँव रखकर चलने के कारण तभी से उनका नाम '**पद्मपाद**' पड़ गया। अर्थात् सनन्दन 'पद्मपाद' के नाम से प्रसिद्ध हुए। आगे चलकर उन्होंने आचार्य शंकर अर्थात् गुरुदेव के महान् ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' पर एक अत्यन्त हृदयग्राही 'पंचपदिका' नामक सुविस्तृत टीका का निर्माण किया। जो आज भी 'ब्रह्मसूत्र' की महत्त्वपूर्ण टीका मानी जाती है। यह सब गुरु-भक्ति का प्रसाद है, फल है, परिणाम है। गुरु की भक्ति ही जिनेन्द्र भगवान की सच्ची पूजा है। छटे फूल की हम चर्चा कर आये हैं। अब हम सातवें फूल–तप की शाब्दिक, मौलिक, शास्त्रीय चर्चा करेंगे।

७. तप

तप की महिमा का कहाँ तक वर्णन किया जाये। संसार में जो भी शक्ति है, वह तप की ही है, संसार तप के बल पर ही ठहरा हुआ है। आज खान-पान सम्बन्धी तृष्णा बढ़ गई है, लोग जिह्वा को अपने वश में करने के बदले जिह्वा के वश में हो रहे हैं। इसी से तप बल भी कम हो गया है और इसी से संसार कष्ट भोग रहा है, जो स्वेच्छापूर्वक समभाव से कष्ट नहीं भोगते, उन्हें अनिच्छा से, व्याकुल भाव से कष्ट भोगना पड़ता है। स्वेच्छापूर्वक कष्ट भोगने में एक प्रकार का उल्लास होता है और अनिच्छा से कष्ट भोगने में एकान्त विषाद होता है। स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहने का परिणाम मधुर होता है और अनिच्छा से कष्ट सहने का नतीजा कटुक होता है। तप एक प्रकार की अग्नि है, जिसमें समस्त अपवित्रता सम्पूर्ण कल्मष एवं समग्र मलिनता भस्म हो जाती है। तपस्या की अग्नि में तप्त होकर आत्मा सुवर्ण की भाँति तेज से विराजित हो जाती है। अतएव तप धर्म का महत्त्व अपार है।

'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' में भगवान महावीर स्वामी से पूछा गया–

"तवेणं भंते ! जीवे किं जणयई ?"

–हे भन्ते ! तप करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

"तवेणं वोदाणं जणयई।"

–हे शिष्य ! तप करने से ही आत्मा बँधे हुए अशुभ कर्मों का क्षय करता है।

जो व्यक्ति आयंबिल, उपवास, नवकारसी, पोरसी इत्यादि तप करते हैं और उनका शरीर भले ही कृश हो किन्तु आत्मा अत्यन्त दृढ़, निर्मल और सशक्त बनती है और शरीर के कृश होने पर भी नुकसान कुछ नहीं होता, क्योंकि इस शरीर को तो वैसे भी एक दिन नष्ट होना ही है। इसलिए क्यों न तप करके आत्मा को लाभ पहुँचाया जाये। वाल्मीकि ने 'रामायण' में कहा है–

"अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोऽर्जनम्।
स पश्चात्तप्यते मूढो, मृतोगत्वात्मनोगतिम्॥"

–यह शरीर तो क्षण-भंगुर है, इसमें रहते हुए जो जीव तप उपार्जन नहीं करता, वह मूर्ख मरने के पश्चात् जब उसे अपने कुकर्मों का फल मिलता है, तब बहुत पश्चात्ताप करता है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने 'आचारांग निर्युक्ति' में बहुत सुन्दर फरमाया है–

"जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्ममट्ठविहं॥"

–जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक तप-साधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाता है।

श्रमण संस्कृति तप प्रधान संस्कृति है। तप श्रमण संस्कृति का प्राण तत्त्व है, जीवन की श्रेष्ठ कला है, आत्मा की अन्तःस्फूर्ति पवित्रता है, जीवन का दिव्य आलोक है, आत्म-शोधन की प्रक्रिया है। तप की महिमा और गरिमा का गौरव गान श्रमण संस्कृति ने गाया है, वह अपूर्व है, अनूठा है।

जीवनोत्थान का प्रशस्त पथ : तप

तप जीवन उत्थान का प्रशस्त पथ है। तप की उत्कृष्ट आराधना और साधना से तीर्थंकर जैसे गौरवपूर्ण पद की भी उपलब्धि होती है। यदि हम सभी तीर्थंकरों के पूर्व-भवों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि सभी तीर्थंकरों ने अपने पूर्व-भव में तप की महान् साधनाएँ की थीं। तप का जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। तप की परिभाषा करते हुए आचार्य कहते हैं–शब्द-रचना की दृष्टि से तप शब्द 'तप' धातु से बना है, जिसका अर्थ तपना है। सुप्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है–

"तप्यते अणंण पावं कम्ममितितपो।"

–जो आठ प्रकार के कर्म को तपाता है, उन्हें नष्ट करने में समर्थ हो, वह तप है।

चिलचिलाती धूप से पानी सूख जाता है। भयंकर गर्मी से ठण्ड भाग जाती है। वैसे ही कर्मरूपी जल को तप सुखा देता है। भवरूपी सनसनाती शीत को नष्ट कर देता है। तप वह ज्वाला है, जिससे अनन्तकाल से जो विकार अन्तर्मानस में पनप रहे होते हैं, वे सब जलकर नष्ट हो जाते हैं। तप वह दिव्य ज्योति है, जो अन्तर्मानस के गहन अन्धकार को एक क्षण में नष्ट कर देती है। तप में केवल अशन, पान, खादिम और स्वादिम का निरोध ही नहीं होता, वासना और विकारों का भी निरोध होता है।

सिद्धियों का मूल : तप

इस विराट् विश्व में जितनी भी शक्तियाँ हैं, विभूतियाँ हैं और लब्धियाँ हैं, वे तप से संप्राप्त होती हैं। इसलिए कहा है–

"तपोमूला हि सिद्धयः।"

–समस्त सिद्धियाँ तप मूलक हैं। जितनी भी लब्धियाँ हैं, वे तप से ही संप्राप्त होती हैं। तप से आत्मा में एक अद्भुत तेज का संचार होता है। आप सुनते हैं या पढ़ते हैं, गणधर इन्द्रभूति गौतम को जो अद्भुत लब्धियाँ आलब्ध हुई थीं, उसका मूल भी तप था।

चक्रवर्ती सम्राट् षट्खण्ड पर विजय वैजयन्ती फहराने के लिए तप की साधना करते हैं। वे तीन दिन तक निर्जल तप एक बार नहीं, तेरह बार करते हैं। किसी भी कठिन व अभीष्ट कार्य की पूर्ति हेतु वे तप की आराधना करते हैं। चक्रवर्ती ही नहीं, वासुदेव भी अपने कार्य की सिद्धि के लिए तप की आराधना करते हैं। तप में वह शक्ति है, जिसके कारण देवता भी नतमस्तक हो जाते हैं। तप से आत्मा में जो प्रचण्ड शक्ति उद्भूत होती है, उसके सामने देवता तो क्या इन्द्र भी उस तपस्वी के चरणों की धूल लेने के लिए लालायित रहते हैं। इस विराट् विश्व में सर्वाधिक दुष्प्राय वस्तु है, वह तप के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। तप का आध्यात्मिक क्षेत्र में बहुत बड़ा महत्त्व है, तप का क्षेत्र बड़ा विशाल रूप धारण किये है। जैन आगम साहित्य में तप को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है–(१) बाह्य तप, और (२) आभ्यन्तर तप।

बाह्य तप

जिस तप में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है और जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा मुक्त होने से दूसरों को दृष्टिगोचर होता है, वह बाह्य तप है। बाह्य तप के

छह भेद हैं-(१) अनशन तप, (२) ऊनोदरी तप, (३) भिक्षाचर्या तप, (४) रस-परित्याग तप, (५) कायक्लेश तप, और (६) प्रतिसंलीनता तप।

(१) **अनशन तप**–चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अनशन से तन की भी शुद्धि होती है और मन की भी। महात्मा गांधी का भी यह अभिमत था कि उपवास से शारीरिक दोष नष्ट होते हैं और मनोबल बढ़ता है। शरीररूपी स्वर्ण को निखारने वाला अनशन है। अनशन से मन के विकार नष्ट होते हैं और मनोबल बढ़ता है। मन में पवित्रता आती है और शरीर में अपार तेज प्रकट होता है। अनशन से बढ़कर इस संसार में कोई बड़ा तप नहीं है। सामान्य मानव के लिए तो यह तप करना बड़ा ही कठिन है। कठिन ही नहीं, कठिनतम है। यह एक प्रकार से अग्नि-स्नान है, जिससे समस्त पाप मल नष्ट हो जाते हैं और उसकी साधना इस तप के दिव्य प्रभाव से निखर उठती है। आचार्य धर्मदास गणी ने लिखा है–यदि कोई साधक किसी को कठोर वचन कहता है, किसी का अपमान करता है और किसी के मर्म को उद्‌घाटित करता है तो उसके एक मास के तप से जो प्रबल पुण्य होता है, वह नष्ट हो जाता है। यदि किसी को शाप दिया जाता है तो एक वर्ष का तप नष्ट हो जाता है। अतः साधक को सतत सावधानी रखनी चाहिए। अनशन तप का बहुत बड़ा महत्त्व है। संक्षिप्त रूप में इतना ही बहुत है।

(२) **ऊनोदरी तप**–ऊनोदरी का अर्थ है ऊन = कम, उदरी = पेट। भूख से कम खाना ऊनोदरी है। यहाँ पर जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है–पूर्णतया आहार का परित्याग करना तो तप है, किन्तु भूख से कम खाना कैसे तप हो सकता है? उत्तर में समाधान है कि भोजन के लिए तैयार होकर भूख से कम खाना, भोजन करते-करते बीच में ही उसे छोड़ देना बहुत ही कठिन कार्य है। एक दृष्टि से विचार किया जाये तो उपवास करना सरल है किन्तु भोजन सामने आने पर पेट को खाली रखना, स्वाद आते हुए बीच में ही भोजन को छोड़ देना कठिन है। ऊनोदरी तप का बहुत बड़ा महत्त्व है। ऊनोदरी तप के दो भेद हैं-द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी। आहार की मात्रा आवश्यकता से कम लेना, इसी प्रकार वस्त्र आदि में भी कमी करना द्रव्य ऊनोदरी है। भाव ऊनोदरी से तात्पर्य है–आन्तरिक वृत्तियों की ऊनोदरी अर्थात् आन्तरिक अशुभ वृत्तियों को कम करना। क्रोध, मान, माया, लोभादि आन्तरिक वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियों का सर्वथा क्षय करना साधक का लक्ष्य है। किन्तु इन कषायों को एकदम नष्ट करना सम्भव नहीं है। उसके लिए निरन्तर प्रयास आवश्यक है। जैसे आहार की मात्रा धीरे-धीरे कम की जाती है, वैसे ही कषाय की मात्रा को धीरे-धीरे कम करने का प्रयास किया जाता है।

कषायों को कम करना ही भाव ऊनोदरी है। ऊनोदरी तप करना बहुत कठिन है, लेकिन जो करते हैं वे अपना कल्याण करते हैं। ऊनोदरी तप के द्वारा चमत्कार को पाया जा सकता है। दिव्य आत्मा का आलोक है। इस ऊनोदरी तप के धारी महान् चमत्कारी महापुरुष स्वामी श्री रूपचन्द जी महाराज थे। इस महापुरुष के जीवन में ऊनोदरी तप का बहुत बड़ा महत्त्व था।

(३) **भिक्षाचर्या तप**–निर्दोष आहार पानी ग्रहण करना। भिक्षाचर्या को गोचरी के नाम से भी पुकारा जाता है। गो-चरी। गो का अर्थ है–गऊ। चरी का अर्थ है–चरना। जैसे गाय, यह घास बढ़िया किस्म की है और यह घास घटिया किस्म की है, इस प्रकार का भेद किये बिना अपने उदर-पोषणार्थ वह एक किनारे से दूसरे किनारे तक चरती हुई चली जाती है, वह जिस घास को चरती है, उसे नष्ट नहीं करती, बिना जड़ उखाड़े घास को चरती है, वैसे ही श्रमण साधु भी बिना गृहस्थ को कष्ट दिये भिक्षा ग्रहण करता है। वह यह नहीं सोचता कि यह सरस आहार है या नीरस आहार है। यह श्रेष्ठी का घर है या निर्धन का घर है। बिना भेदभाव किये भिक्षा ग्रहण करना ही भिक्षाचर्या तप है। गोचरी को मधुकरी भी कहते हैं। जैसे मधुकर फूलों पर मँडराता है और थोड़ा-थोड़ा रस लेकर उड़ जाता है और फिर अन्य फूल पर बैठकर रस पान करता है, वह फूलों को कष्ट नहीं देता और स्वयं भी तृप्त होता है, वैसे ही श्रमण, भिक्षु, साधु भी गृहस्थ को कष्ट न देकर भिक्षा ग्रहण करता है। श्रमण मधुकर और गाय की वृत्ति के अनुसार भिक्षा ग्रहण करता है। आचार्य हरिभद्र ने भिक्षा के तीन प्रकार बताये हैं–(१) दीनवृत्ति भिक्षा, (२) पौरुषघ्नी भिक्षा, और (३) सर्वसम्पत्करी भिक्षा।

जो व्यक्ति अनाथ हैं, अपंग हैं या आपत्ति से संत्रस्त हैं, वे भिक्षा माँगकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं, वह दीनवृत्ति भिक्षा है। जिनके शरीर में सामर्थ्य है, कमाने की शक्ति होने पर भी काम से जी चुराकर जो भिक्षा माँगते हैं, वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। यह भिक्षा पुरुषत्व को नष्ट करने वाली है। ऐसे भिक्षुक देश के लिए भाररूप होते हैं। जो श्रमण उदर-निर्वाह के लिए गृहस्थ के घर से उसके अपने लिए बना हुआ निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं, वह सर्वसम्पत्करी भिक्षा है। भिखारी की भिक्षा दीनवृत्ति और पौरुषघ्नी होती है जबकि जैन साधु की भिक्षा सर्वसम्पत्करी होती है। सर्वसम्पत्करी भिक्षा से देने वाले का भी उद्धार होता है और लेने वाले का भी। दोनों को सद्गति प्राप्त होती है। दान प्रदान करने वाले को यह ध्यान रखना चाहिए कि देय वस्तु शुद्ध हो, दाता की भावना भी विशुद्ध हो

और दान ग्रहण करने वाला भी शुद्ध हो। बयालीस दोष टालकर संयम निर्वाह के लिए भिक्षा माँगना भिक्षाचर्या तप है। भिक्षाचर्या तप एक महान् तप है।

(४) **रस-परित्याग तप**–विकारजनक रसों का अर्थात् दूध, दही, घी, मिठाई, नवनीत, तेल, गुड़, मधु, मद्य और माँस आदि महाविकृतियों का त्याग करना रस-परित्याग तप है।

(५) **कायक्लेश तप**–कायक्लेश का अर्थ है–काया को कष्ट देना। शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव रखना और आसन आदि से शरीर को सम्यक् प्रकार से साधना।

"देह दुःखं महाफलं।"

–देह को कष्ट देना महान् फल प्रदान करता है। अज्ञानी साधक भयंकर कष्ट सहन करता है, किन्तु उसका देह दुःख महाफल प्रदाता नहीं होता। ज्ञानपूर्वक जो देह को कष्ट दिया जाता है, अपनी ओर से कर्म-निर्जरा हेतु अनेक प्रकार के आसन, ध्यान, प्रतिमा, केश लुञ्चन, शरीर-मोह का त्याग आदि के माध्यम से विदेह भाव को स्वीकार किया जाता है, वह कायक्लेश तप कहलाता है।

उपाध्याय यशोविजय जी महाराज 'ज्ञानसार' एवं 'तपोष्टक' में लिखते हैं–मनोवांछित लक्ष्य की सिद्धि हेतु शरीर को जो कष्ट दिया जाता है, वह कष्ट नहीं है। उन्होंने एक उपमा दी–जैसे बहुमूल्य रत्नों की उपलब्धि के लिए व्यापारी विराट्काय समुद्रों को लाँघता है, गगनचुम्बी पर्वतों की चोटियों पर पहुँचता है, भयानक जंगलों को पार करता है, यात्राओं में असह्य पीड़ाएँ सहन करता है, तो भी उन यात्राओं में उसे आनन्द प्राप्त होता है। इसी तरह मुक्ति का आकांक्षी साधक कायक्लेश के द्वारा जप, तप व ध्यान की साधना करता है किन्तु उसे उसमें कष्ट नहीं होता। जिस साधना में साधक को कष्टानुभूति होती है, वह साधना नहीं। रोते-रोते कष्ट उठाना यह तो परतन्त्र व्यक्तियों का कार्य है। साधक तो कष्ट को कष्ट ही नहीं मानता। कायक्लेश किया नहीं जाता, होता है। साधक का लक्ष्य तो आत्मा को विशुद्ध बनाना है। शास्त्रकार एक उपमा दे रहे हैं। जैसे घी में यदि मैल है तो उस मैल को अलग करने के लिए घी को किसी पात्र में रखकर अग्नि में तपाया जाता है। पात्र को तपाना उद्देश्य नहीं है, तपाना घी को है। किन्तु बिना पात्र के माध्यम के घी तप नहीं सकता। इसलिए घी के साथ पात्र भी तपता है। वैसे ही आत्मा पर लगे विकारों को नष्ट करने हेतु साधक का लक्ष्य आत्मा को तपाने का होता है, किन्तु आत्मा का निवास शरीर में होने से शरीर को भी तपाया जाता है। आत्मा शुद्धि का लक्ष्य होने के कारण तपाते समय पीड़ा होने पर भी साधक पीड़ा की अनुभूति नहीं करता क्योंकि वह यह समझता है कि देह

पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। देह को कष्ट होता है, मुझे नहीं। देह का नाश हो सकता है, मेरा नहीं। मैं ज्ञान दर्शनमय और चिन्मय रूप हूँ। मुझे कोई भी शक्ति कभी भी नष्ट नहीं कर सकती। कायक्लेश के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है, सर्दी-गर्मी आदि में शारीरिक कष्टों की उपेक्षा करते हुए-साधनालीन रहने का अभ्यास करना ही कायक्लेश तप है। छठे बाह्य तप की चर्चा करेंगे।

(६) **प्रतिसंलीनता तप**–संसाराभिमुख आत्मा को विषय-कषाय से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना और उसके लिए प्रबल प्रयास करना प्रतिसंलीनता तप है। प्रतिसंलीनता में आत्मा को परभाव से हटाकर स्वभाव में लीन बनना होता है। स्वलीनता ही संलीनता है। दूसरे शब्दों में उसे अन्तर्लीनता भी कह सकते हैं। जो साधक स्वलीन है उसे बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं होती है। वास्तव में साधक को अपनी इन्द्रियों का गोपन करना चाहिए, गोपन करने की कला को प्रतिसंलीनता कहा है।

उपर्युक्त छह तप बाह्य तप कहलाते हैं। इनमें बाह्य और भौतिक पदार्थों का प्रसंग रहता है और इन तपों के अन्य जन देख-समझ सकते हैं तथा इनके यथार्थ-अयथार्थ और गहराई का अनुमान भी लगा सकते हैं।

आभ्यन्तर तप

आगामी शेष छह तप आभ्यंतर तप हैं–(७) प्रायश्चित्त तप, (८) विनय तप, (९) वैयावृत्य तप, (१०) स्वाध्याय तप, (११) ध्यान तप, और (१२) व्युत्सर्ग तप। प्रकट रूप में ये दृश्यमान नहीं होते, न ही इनके विषय में किसी प्रकार का आभास या अनुमान अन्य जनों द्वारा लगाया जा सकता है। यह भी एक तथ्य है कि आत्म-शुद्धि के लिए ये आभ्यंतर तप अधिक प्रबल और प्रभावी साधन हैं।

(७) **प्रायश्चित्त तप**–अज्ञान रूप में हो गये दोषों के प्रतिकार के लिए संयमपूर्वक प्रायश्चित्त करने से आत्मा शुद्ध होती है। आचार्यों ने प्रायश्चित्त की व्याख्या करते हुए कहा है–इस शब्द में दो शब्द मिले हुए हैं–प्रायस् और चित्त। प्रायस् का अर्थ है–पाप या अपराध। चित्त का अर्थ है–उसका संशोधन करना। यानि पाप का, अपराध का संशोधन प्रायश्चित्त है।

'सर्वार्थसिद्धि' में कहा है–

"प्रमाद दोष परिहारः प्रायश्चित्तम्।"

–प्रमादवश, धर्म की साधना, आराधना में यदि किसी प्रकार का कोई दोष आ जाये तो उसका परिहार करना भी प्रायश्चित्त है। जिसमें प्रायश्चित्त का स्वरूप

चिन्तन और विवेचन भी बड़े विस्तार के साथ बतलाया गया है। जिसे पूर्ण विवेक से देखने-पढ़ने के बाद यह कहा जा सकता है कि संवेग और निर्वेद से भरा हुआ साधु अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है, उसको प्रायश्चित्त तप कहा गया है। अध्यात्म जगत् में दोष अथवा अपराध को रोग कहा जा सकता है और प्रायश्चित्त विधान को उसकी चिकित्सा माना जा सकता है। चिकित्सा का उद्देश्य रोगी को कष्ट देना नहीं होता है, बल्कि उसके रोग का निवारण करना होता है। उसी तरह दोषयुक्त साधु को प्रायश्चित्त देने का उद्देश्य, उसे कष्ट या क्लेश देना या पहुँचाना नहीं होता, बल्कि उसे दोषमुक्त करना होता है। अर्थात् धारण किये हुए व्रतों में प्रमाद जन्य दोषों के निवारण के लिए श्रद्धापूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण करना ही प्रायश्चित्त तप कहलाता है।

(८) विनय तप–ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से सम्पन्न गुरुजनों, गुणीजनों एवं सज्जनों का विनम्र भाव से बहुमान करना ही विनय है। व्रत, विद्या, आयु आदि में अपने से बड़ों के प्रति सम्मान का भाव रखना और उनकी उपेक्षा न करना आदि विनय है। साथ ही देव, गुरु, धर्मादि का सम्मान करना और इनकी अवहेलना न करना भी विनय है। विनय शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'नी'-नयने धातु से बना है।

"विनयतीति विनयः।"

यहाँ पर 'विनयति' इस शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं–दूर करना और विशेष रूप से (किसी वस्तु को) प्राप्त करना। विनय साधना मार्ग में रुकावट बनकर खड़े अप्रशस्त कर्मों को दूर करती है और जिन वचन के ज्ञान को प्राप्त कराती है। जिसका फल मोक्ष है अर्थात् 'विनय' में वह सब सामर्थ्य छिपी हुई है। भारतीय संस्कृति का प्रत्येक शास्त्र, ग्रन्थ इस बात से सहमत है कि–

"विद्या ददाति विनयं, विनयाद् याति पात्रताम्।"

–विद्या विनय की दात्री है। विनय से व्यक्ति में वह पात्रता आती है, जिससे वह धर्म को धारण करने लायक बनता है और धर्म को धारण करने से सुख होता है। 'भावपाहुड' में भी विनय के माहात्म्य को स्वीकार करके साधु-मुनि को सलाह देते हुए कहा गया है–

"विणयं पचपयारं पालहि, मणवयण काए जोएण।
अविणय णरा सुविहियं, तत्तोमुत्तिं ण पावंति॥"

–हे मुनि ! पाँच प्रकार की विनय को मन, वचन व काया से पालन करो। क्योंकि विनय से रहित व्यक्ति सुविहित मुक्ति को प्राप्त नहीं करते हैं।

विनय के पाँच भेद–ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्त विनय, तप विनय व उपचार विनय। यह पाँचों मोक्ष गति के नायक माने गये हैं। विनय से ज्ञान लाभ, आचार विशुद्धि और सम्यक् आराधना की सिद्धि होती है और अन्त में मोक्ष-सुख भी मिलता है। मोक्ष के अभिलाषियों को ज्ञान की प्राप्ति के पाँच आचारों को निर्मल करने के लिए, सम्यग्दर्शन आदि को विशुद्ध बनाने और आराधना आदि की सम्यक् सिद्धि के लिए विनय की भावना करनी चाहिए। जहाँ विनय है, वहाँ धर्म है।

"धम्मस्स विणओ मूलं।"

–धर्म का मूल विनय है। जिस धर्म से मूलगुण विनय ही निकल जायेगा, उसमें उत्तरगुण कैसे आयेगा? जिस व्यापारी के पास मूल नहीं, उसके पास ब्याज कहाँ से आयेगा? भगवान महावीर ने 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा है–एक वृक्ष है, अगर उसका मूल ठीक है तो उसके स्कन्ध, शाखाएँ, प्रतिशाखाएँ, पत्ते, फल-फूल और रस भी है। यदि वृक्ष का मूल सूख गया तो स्कन्ध, शाखाएँ, प्रतिशाखाएँ, पत्ते, फल-फूल और रस की प्राप्ति नहीं। 'धर्मरत्न प्रकरण' में कहा है–

"विनएण णरो, गन्धेण चंदणं सोमयाइ रयणियरो।
महुरस्सेण अमयं, जणपियत्तं लहइ भुवणे॥"

–जैसे सुगन्ध के कारण चंदन, सौम्यता के कारण चन्द्रमा और मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय है, ऐसे ही विनय के कारण मनुष्य लोगों में प्रिय बन जाता है। जिस तप के करने से विशेष रूप से मोक्ष तक पहुँचा जा सकता है, वह तप विनय है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण दुःखों के कारणभूत आठ कर्मों का विनयन–विनाश होता है, उसे विनय कहते हैं।

(९) वैयावृत्य तप–

'श्री स्थानांगसूत्र की टीका' में कहा है–

"वैयावृत्यम्, भक्तादिभिर्धर्मोपग्रहकारि वस्तुभिः उपग्रहकरणे।"

अर्थात् धर्माराधना में सहारा देने वाली आहार आदि वस्तुओं द्वारा उपग्रह सहायता प्रदान करना वैयावृत्य है। वैयावृत्य तप को सेवा तप भी कहते हैं। सेवा शब्द का अर्थ है–परिचर्या, खिदमत, पूजा, आराधना, रोगी एवं गुरुजनों को उनकी इच्छित वस्तु प्रदान करना। सेवा धर्म महान् है, उत्कृष्ट मंगल है, तपस्या का पावन धाम है। सेवा की इसी अलौकिक महिमा के कारण ही सम्भव है, अहिंसा के अमर देवता भगवान महावीर ने 'उत्तराध्ययनसूत्र' में यह उद्घोष किया है–

"वेयावच्चेणं जीवे तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ।"

अर्थात् वैयावृत्य की सम्यक् आराधना से जीव तीर्थंकरपद को प्राप्त कर लेता है।

सेवा धर्म परम गहन–सेवा जितनी महान् है, पावन है, सुखदायक है तथा समुज्जवता का पावन स्रोत है, इसकी आराधना उतनी ही कठिन है। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी सेवा धर्म के रहस्य को, इसकी अलौकिकता को समझ नहीं सकते। सेवा धर्म की महिमा के मर्मज्ञ, पारखी, स्वनाम धन्य श्री भर्तृहरि ने कितनी सुन्दर भाषा में कहा है–

"सेवाधर्मः परमगहनो, योगिनामप्यगम्यः।"

–सेवा धर्म परम गहन है, इसकी गरिमा को समझना कठिन है, योगिजनों के लिए भी अगम्य है, पहुँच से परे है।

आध्यात्मिक जगत् में सेवा धर्म का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। सेवा को ही वैयावृत्य भी कहते हैं। वैयावृत्य एक प्रकार का नहीं होता, इसके अनेकों विकल्प उपलब्ध होते हैं। 'स्थानांगसूत्र' में १० प्रकार की वैयावृत्य कही गई है– (१) आचार्य की वैयावृत्य, (२) उपाध्याय की वैयावृत्य, इसी प्रकार (३) स्थविर या वृद्ध की वैयावृत्य, (४) तपस्वी, (५) ग्लान, (६) नव-दीक्षित, (७) कुल (एक गुरु का शिष्य-समुदाय), (८) गण (गुरु-शिष्य परिवारों का समुदाय), (९) संघ (गणों का समूह), (१०) साधर्मिक (समान धर्म वाले) सन्तों की वैयावृत्य।

"भव्य जीव जिनकी प्रेरणा से व्रतों का आचरण करते हैं। इनका वैयावृत्य करना आचार्य का वैयावृत्य है।" "जो मुनि व्रत, शील और भावना के आधार हैं और जिनके पास जाकर आत्म-कल्याण के लिए साधुगण श्रुत का अध्ययन करते हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं।"

"जो श्रुतज्ञान की शिक्षा ग्रहण करने में तत्पर और व्रतों की भावना में निपुण हैं, वे शैक्ष कहलाते हैं। अर्थात् जिन्होंने अभी-अभी महाव्रतों को ग्रहण किया है, जिसे नवदीक्षित भी कहते हैं।" "महोपवास यानि 'मासोपवास' आदि लम्बे-लम्बे तप करने वाले साधु तपस्वी कहे जाते हैं।" "जिनका शरीर रोग आदि से आक्रान्त है, वे मुनि, साधु, ग्लान कहे जाते हैं।" "स्थविर साधुओं की संगति, परम्परा को 'गण' कहा जाता है।" "दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा को 'कुल' और चार (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) प्रकार के श्रमण-समूह को संघ कहा जाता है।" साधर्मी पर आपत्ति आने पर उस संकट का प्रतिकार करना साधर्मिक की सेवा है। सेवा धर्म की आराधना करने वाले अनेकानेक महापुरुष हो चुके हैं।

(१0) **स्वाध्याय तप**–भारतीय संस्कृति में स्वाध्याय का स्थान बहुत ऊँचा एवं पवित्र माना गया है। हमारे पूर्वजों ने जो भी ज्ञान राशि एकत्रित की है और जिसे देखकर आज समस्त संसार चमत्कृत है, वह स्वाध्याय के द्वारा ही प्राप्त हुई है। भारत जब तक स्वाध्याय की ओर से उदासीन न हुआ, तब तक वह ज्ञान के दिव्य प्रकाश से जगमगाता रहा। स्वाध्याय वह सूर्य है, जिसके आलोक में मनुष्य जीवन रहस्य जान सकता है, स्वाध्याय वह दिव्य चक्षु है, जिसके माध्यम से मनुष्य अतीत, अनागत और वर्तमान को हाथ में रखे दर्पण की तरह देख सकता है। स्वाध्याय ज्ञान का अक्षय स्रोत है।

'स्थानांगसूत्र की टीका' में आचार्य श्री अभयदेवसूरि ने स्वाध्याय की व्याख्या करते हुए कहा है–

"सुष्ठु आमर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः।"

–सत्शास्त्र की मर्यादा के साथ पढ़ना स्वाध्याय है। उन्होंने दूसरी परिभाषा देते हुए कहा है–

"स्वेन स्वस्य अध्ययनम् स्वाध्यायः।"

–अपने द्वारा अपना अध्याय स्वाध्याय है। सु + अधि + आयः = स्वाध्याय। बाह्य जगत् से अपने अन्दर लौटना ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय, हमारे अन्धकारपूर्ण जीवन-पथ के लिए दीपक के समान है। शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को नन्दनवन की उपमा दी है। जिस प्रकार नन्दनवन में प्रत्येक दिशा की ओर भव्य से भव्य दृश्य मन को आनन्दित करने के लिए होते हैं, वहाँ जाकर मनुष्य सब प्रकार की दुःख और क्लेश-सम्बन्धी झंझटें भूल जाता है, उसी प्रकार स्वाध्याय रूप नन्दनवन में भी एक से एक सुन्दर एवं शिक्षाप्रद दृश्य देखने को मिलते हैं और आनन्दमय वातावरण में विचरण करता है। 'योगदर्शन' में महर्षि पतंजलि ने स्वाध्याय पर प्रकाश डालते हुए कहा है–

"स्वाध्यायदिष्ट देवता संप्रयोगः।"

–स्वाध्याय रूप दर्पण में इष्ट देवता का साक्षात्कार किया जा सकता है। महर्षि पंतजलि ने परमात्म-ज्योति के दर्शन पाने के लिए स्वाध्याय को बड़ा महत्त्व दिया है और लिखा है–

"स्वाध्यायाद् योगमासीत, योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय-योगसंपत्या, परमात्मा प्रकाशते॥"

–स्वाध्याय से योग और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। जो साधक स्वाध्याय मूलक योग का अच्छी तरह अभ्यास कर लेता है, उसके सामने परमात्मा

प्रकट हो जाता है। स्वाध्याय वाणी की तपस्या है। इसके द्वारा हृदय का मैल धुलकर साफ हो जाता है। स्वाध्याय अन्तःप्रेक्षण है। इसी के अभ्यास से बहुत-से पुरुष आत्मोन्नति करते हुए महात्मा परमात्मा हो गये हैं। अन्तर का ज्ञान दीपक बिना स्वाध्याय के प्रज्वलित हो ही नहीं सकता। ये 'शिखरोपनिषद्' में कहा है–

"यथाग्निर्दारुमध्यस्थो, नो तिष्ठेन्मथनं विना।
विना चाभ्यासयोगेन, ज्ञान दीपस्तथा नहि॥"

–जैसे लकड़ी में रही हुई अग्नि मन्थन के बिना प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान दीपक, जो हमारे भीतर ही विद्यमान है, स्वाध्याय के अभ्यास के बिना प्रदीप्त नहीं हो सकता। 'चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र' में कहा है–

"नवि अत्थि नवि य होई सज्झायसमं तवो कम्मं।"

–स्वाध्याय से अनेक भवों के संचित दुष्कर्म क्षणभर में क्षीण हो जाते हैं। जैसे विशाल ईंधन के ढेर को थोड़ी-सी आग पलभर में भस्मसात् कर देती है। ऐसे ही स्वाध्याय भी कर्मों का सर्वनाश कर देता है।

'उत्तराध्ययनसूत्र' के २१वें अध्ययन में भगवान महावीर से पूछा गया–

"सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?"

–हे भंते ! स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर दिया जाता है–

"सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।"

–स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है। स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तप नहीं है। धर्मग्रन्थों, शास्त्रों, सत्साहित्यादि का मर्यादापूर्वक अध्ययन करना स्वाध्याय है। अध्यात्म जगत् में स्वाध्याय का बहुत बड़ा महत्त्व है। जो भव्य जीव सद्शास्त्रों का एवं अपनी आत्मा का स्वाध्याय करेगा, वही अपनी आत्मा का कल्याण करेगा। ज्ञान-विज्ञान, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, कल्याण-अकल्याण इत्यादि को जानने के लिए स्वाध्याय तप है।

(११) ध्यान तप–निर्वात स्थान में स्थिर दीपशिखा के समान निश्चल और अन्य विषयों के संकल्प से रहित केवल एक ही विषय का धारावाही चिन्तन ध्यान कहलाता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थिर अध्यवसान एवं मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं।

हमारे भारतीय मनीषियों ने ध्यान का महत्त्व बताते हुए कहा है–ध्यै चिन्तायाम् धातु से बने ध्यान शब्द का अर्थ है–चिन्तन, मनन करना, किन्तु अध्यात्म-साधना में ध्यान का तात्पर्य है–मन को एक आलम्बन पर स्थिर करना, किसी एक वस्तु पर मन को एकाग्र करना। जैन, वैदिक एवं बौद्ध सभी परम्पराओं में ध्यान अर्थात् मन के केन्द्रीयकरण को मुक्ति का मार्ग माना है। ध्यान के समय मन की चंचलता रुक जाने से वह दीपक की स्थिर लौ-सा शान्त हो जाता है।

'तत्त्वार्थ सार' के अन्दर कहा है–

"मण सलिले थिरभुए दीसइ अप्पा तहा विमले।"

–मानस सागर में मनोविकारों की उठने वाली तरंगें शान्त हो जाती हैं और चित्त निर्मल एवं शुद्ध हो जाता है। 'गीता' में श्रीकृष्ण ने कहा है–

"ध्यानं निर्विषयं मनः।"

–मन का विषयरहित ही ध्यान है।

"ध्यानं आत्मस्वरूप चिन्तनम्।"

–आत्म-स्वरूप का नाम ही ध्यान है।

"एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्।"

-एकाग्र रूप से चिन्ता का निरोध अथवा पदार्थ पर विचार का केन्द्रीयकरण ध्यान है। ध्यान शुभ चिन्तन की धाय माँ है और शुभ चिन्तन ही ध्यान की खुराक है। वास्तव में शुभ चिन्तन से चित्त की शुद्धि होती है और आत्मा विशुद्ध बन जाती है। ध्यान चित्त शुद्धि की वह प्रक्रिया है, जिससे चित्त में स्थित वासना, कामना, संशय, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, क्षोभ, उद्विग्नता, चिन्ता, शान्ति, अप्रसन्नता इत्यादि विकार दूर होते हैं। ध्यान से मन में उत्साह बढ़ता है, चित्त में साहस का संचार होता है, उत्साह और साहस से सोचा हुआ शुभ कार्य पूर्ण होता है। ध्यान आत्मा को देखने के लिए एक दर्पण है। उपाध्याय यशोविजय जी महाराज ने 'अध्यात्म सार' में कहा है–

"कर्मयोगं समभ्यस्य, ज्ञानयोगं समाहितः।
ध्यानयोगं समारुह्य, मुक्तियोगं प्रपद्यते॥"

–कर्मयोग का अभ्यास करके ज्ञानयोग में समाहित हुआ योगी फिर ध्यानयोग पर आरूढ़ होकर मुक्तियोग को प्राप्त कर लेता है। आचार्य हेमचन्द्र जी महाराज ने 'योगशास्त्र' में स्पष्ट कहा है–

"मोक्षः कर्मक्षयादेव, स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद् ध्यानं हितमात्मनः॥"

–कर्मों के क्षय से ही मोक्ष होता है, कर्मक्षय आत्म-ज्ञान से होता है और आत्म-ज्ञान ध्यान से प्राप्त होता है, अतः ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना गया है। आचार्य हेमचन्द्र जी महाराज कह रहे हैं–

"श्रयते सुवर्ण भावं, सिद्धरस स्पर्शतो यथालोहम्।
आत्म ध्यानादात्मा, परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति॥"

–जैसे सिद्धरस रसायन के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है। उसी प्रकार आत्मा का ध्यान करने से आत्मा परमात्मा बन जाता है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने 'आचारांगसूत्र की निर्युक्ति' में कहा है–

"सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साहु धम्मस्स, तहा झाणं विधीयते॥"

–जैसे मनुष्य के शरीर में उसका सिर महत्त्वपूर्ण है तथा वृक्ष में जड़ मुख्य है, वैसे ही साधु के समस्त धर्मों का मूल ध्यान है। भारतीय संस्कृति में ध्यान का क्षेत्र बड़ा विशाल क्षेत्र है। ध्यान को चार भागों में विभक्त किया गया है– आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

आर्त्तध्यान–आर्त्ति का अर्थ दुःख, कष्ट एवं पीड़ा होता है। आर्त्ति के निमित्त से जो ध्यान होता है, वह आर्त्तध्यान कहलाता है। अनिष्ट वस्तु के संयोग से, इष्ट वस्तु के वियोग से, रोग आदि के कारण से तथैव भोगों की लालसा से जो मन में एक प्रकार की विकलता-सी अर्थात् सतत कसक-सी होती है वह आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान–रुद्र का अर्थ है हिंसक व्यक्ति। हिंसक व्यक्ति की चिन्तनधारा सदैव हिंसा, युद्ध, मारपीट, कलह, द्वेष आदि पर ही केन्द्रित रहती है। उसकी इसी चिन्तनधारा को रौद्रध्यान कहा जाता है। कभी-कभी मनुष्य कामान्ध होकर भी बड़े-बड़े युद्ध छेड़ देता है, अतः वासनाओं के चिन्तन को भी रौद्रध्यान कहा जाता है।

धर्मध्यान–श्रुत एवं चारित्र की साधना को धर्म कहते हैं। अर्थात् जो ध्यान धर्म से युक्त है, वह धर्मध्यान है। धर्म भावना से प्राणियों पर दया, स्वधर्मी-वात्सल्य, करुणा, अनुकम्पा आदि से प्रेरित चिन्तन तथा आगमों आदि में पठित एवं गुरुजनों से सुने हुए धार्मिक विषयों का मनन तथा आत्म-चिन्तन आदि को धर्मध्यान कहा जाता है।

शुक्लध्यान–कर्म मैल को शोधन करने वाला तथा शुच = शोक को दूर करने वाला ध्यान शुक्लध्यान होता है। धर्मध्यान शुक्ल का साधन है। शुक्लध्यान में पहुँचकर मन पूर्ण एकाग्र, स्थिर, निश्चल एवं निस्पन्द हो जाता है। साधक के सामने कितने ही सुन्दर प्रलोभन क्यों न हों, शरीर को तिल-तिल करने वाले कैसे ही क्यों न छेदन-भेदन हों, शुक्लध्यान के द्वारा स्थिर हुआ अचंचल चित्त लेशमात्र भी चलायमान नहीं होता। शुक्लध्यान की उत्कृष्टता केवलज्ञान उत्पन्न करने वाली है और केवलज्ञान की प्राप्ति सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाने वाली है।

आर्त्त आदि चारों की ध्यानों का स्वरूप संक्षेप भाषा में स्मृतिस्थ रह सके, इसके लिए हम यहाँ एक प्राचीन गाथा उद्धृत करते हैं। यह गाथा आचार्य जिनदास महत्तर ने 'आवश्यकचूर्णि' के रूप में प्रस्तुत की है। गाथा प्राकृत और संस्कृत भाषा में सम्मिश्रित है और बड़ी ही सुन्दर है। वह गाथा इस प्रकार है–

"हिंसाणुरंजियं रौद्रं, अट्टं कामाणुरंजितं।
धम्माणुरंजियं धम्मं, सुक्कं झाणं निरंजणं॥"

–हिंसा से अनुरंजित = रँगा हुआ ध्यान रौद्र है, काम से अनुरंजित ध्यान आर्त्त कहलाता है, धर्म से अनुरंजित ध्यान धर्मध्यान है और शुक्लध्यान पूर्ण निरंजन होता है।

ध्यान का वर्णन बहुत विस्तृत है। यहाँ संक्षेप रुचि के कारण अधिक चर्चा में नहीं उतर सके हैं। इस सम्बन्ध में अधिक जिज्ञासा वाले सज्जन प्रवचनसारोद्धार, ध्यानशतक, ध्यानकल्पतरु, तत्त्वार्थसूत्र, स्थानांगसूत्र आदि का अवलोकन करने का कष्ट करें।

(१२) व्युत्सर्ग तप–व्युत्सर्ग शब्द 'वि' + 'उत्' + 'सर्ग' = व्युत्सर्ग। 'वि' का अर्थ होता है–विविध। 'उत्' का अर्थ है–उत्कृष्ट। 'सग' का अर्थ है–'त्याग'। इसके आधार पर व्युत्सर्ग का शब्दार्थ होगा–विविध प्रकार का उत्कृष्ट त्याग। स्त्री, पुत्र आदि के सम्बन्धों को कर्मबन्ध का बाह्य कारण माना जाता है और अहंकार व ममत्व आदि को अन्तरंग कारण माना गया है। ये वे दोष हैं, जिन्हें प्रत्येक साधन को छोड़ना चाहिए। अतः इन बाह्य व आभ्यन्तर दोषों का भलीभाँति से त्याग करना व्युत्सर्ग है। अथवा शरीर व उसके आहार में प्रवृत्ति को हटाकर, ध्येय वस्तु, पदार्थ की एकाग्रता करना तथा बन्ध के हेतुभूत तमाम बाह्य और आभ्यन्तर दोषों का भली प्रकार से त्याग करना व्युत्सर्ग कहते हैं।

हमने बारह प्रकार के तपों की बहुत सुन्दर व बुद्धि के आधार पर विस्तृत चर्चा कर ली है। हम पूजा की चर्चा कर रहे हैं जिसमें पूजा के आठ फूलों की चर्चा कर रहे हैं। पूजा का सातवाँ फूल है–तप। पीछे हम सातवें फूल–तप की विस्तृत चर्चा कर चुके। अब हम आठवें फूल–ज्ञान की चर्चा करेंगे।

८. ज्ञान

ज्ञान क्या है?

"ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्।"

–जिसके द्वारा जाना जाय, वह ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ है–जानकारी। भगवान महावीर स्वामी ने 'दशवैकालिकसूत्र' में फरमाया है–

"पढमं नाणं तओ दया।"

–पहले ज्ञान है फिर आचरण है। जब तक हम जानते ही नहीं तो धर्म क्या है, अधर्म क्या है, पाप क्या है, पुण्य क्या है, इसको हम कैसे जान पायेंगे? पहले जानकारी जरूरी है। बिना जानकारी के यह अमृत है, विष है, इसका पता नहीं चलेगा। यदि जानकारी है तो अमृत को, विष को जान लेना।

"न ज्ञानात् परं चक्षुः।"

भौतिक पदार्थों के और आध्यात्मिक तत्त्वों के स्वरूप को समझने के लिए ज्ञान के समान दूसरा कोई नेत्र नहीं है।

"ज्ञानं मनः पावनम्।"

–ज्ञान मन के समस्त विकारों को नष्ट करके उसे शुद्ध और पवित्र बनाता है।

"ज्ञानं सर्वार्थसाधकम्।"

–सभी प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति में ज्ञान ही साधक है।

'गीता' में श्रीकृष्ण अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं–

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।"

–हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों के समूह को क्षण में ही भस्म कर देती है। ऐसे ही ज्ञानाग्नि के द्वारा प्राचीन काल के बँधे हुए अशुभ कर्मों को दूर किया जा सकता है। ज्ञान के बिना न हम जान सकते हैं, न देख सकते हैं, न सूँघ, न चख और न स्वाद ही ले सकते हैं। बिना ज्ञान के पाँचों इन्द्रियों का अनुभव भी नहीं कर सकते हैं। यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है–

"किं परमं विज्ञानं ? स्वकीय गुणदोष विज्ञानम् ?"

–उत्कृष्ट विज्ञान क्या है? विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। अपने दोष-गुण को जान लेना ही विज्ञान है।

'गीता' में श्रीकृष्ण ने कहा है–

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमहि विद्यते।"

–इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है। 'शंकरभाष्य' में कहा है–

"सम्यग्दर्शनात् क्षियं मोक्षो भवति।"

–यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। 'ज्ञानार्णव' में आचार्य शुभचन्द्र जी ने कहा है–

"दुरित तिमिर हंसं मोक्ष लक्ष्मी–सरोजं,
मदन–भुजंग मंत्रं चित्त-मातंग सिंहं।
व्यसन घन समीरं विश्वतत्वैक दीपं,
विषय–शफर जालं ज्ञानमाराधय त्वं॥"

–हे भव्य आत्मा ! ज्ञान का आराधन कर, ज्ञान पापरूपी तिमिर (अन्धेरे) को नष्ट करने के लिए सूर्य के तुल्य है। मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास के लिए कमल के समान है। कामरूपी सर्प को कीलने (वश में करने) के लिए मंत्र के समान है। व्यसन (आपदा) रूपी मेघों को उड़ाने के लिए पवन (वायु) के समान है। समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान है। विषयरूपी मत्स्यों को पकड़ने के लिए जाल के समान है।

"तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं, शमं विधत्ते विनिहन्ति कोपम्।
तनोति धर्मं विधुनोति पापं, ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम्॥"

अर्थात् ज्ञान के प्रभाव से मनुष्यों को क्या-क्या सद्‌गुण नहीं प्राप्त होते। वह आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करता है और आत्मा को अलौकिक आलोक से आलोकित कर देता है। सम्यग्ज्ञान से जीव क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करके प्रशम भाव को प्राप्त करता है। वह पाप विनाशक है और धर्म का विस्तारक है। आगे भी कहा है–

"क्षेत्रे प्रकाशं नियते करोति, रविर्दिनेऽस्तं पुनरेतिरात्रौ।
ज्ञानं त्रिलोके सकले प्रकाशं, करोति नाच्छादनमस्ति किंचित्॥"

अर्थात् सूर्य और सम्यग्ज्ञान में बहुत बड़ा अन्तर है। सूर्य नियत क्षेत्र में ही प्रकाश करता है और वह भी सिर्फ दिन में, रात्रि के समय वह विहीन हो जाता है, सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार छा जाता है। मगर जब सम्यग्ज्ञान का परिपूर्ण विकास होता है, तो सम्पूर्ण तीनों लोकों में उसका आलोक अव्याहत रूप से प्रस्तुत हो जाता है। उस समय उसे आच्छादित करने वाला कोई भी कारण नहीं रह जाता। उसकी एक बड़ी विशेषता यह भी है कि एक बार आलोकित होने के पश्चात् वह कभी भी अस्त ही नहीं होता। इसलिए आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने 'आवश्यकनिर्युक्ति' में कहा है–

"णाणं पयासगं।"

–ज्ञान प्रकाश करने वाला है। ज्ञान मनुष्य-जीवन का सार है। ज्ञान ही सच्ची शक्ति है। ऐसे ज्ञान को जीवन में अंगीकार करना चाहिए।

आचार्य श्री शुभचन्द्र जी ने 'ज्ञानार्णव' में कहा है–

"भव क्लेशविनाशाय, पिब ! ज्ञान सुधारसम्।"

–जन्म-मरण के दुःख को मिटाने के लिए ज्ञान सुधारस का पान करो। ज्ञान एक महासागर की तरह असीम एवं अगाध है।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप–यह सम्यग्ज्ञान क्या है? इस पर यदि आप गहराई से विचार करेंगे तो आप आश्चर्य करेंगे कि वस्तुतः हम सही ज्ञान से अब तक कितनी दूर रहे हैं। अज्ञान मन की रात है जिसमें चाँद व तारे नहीं चमकते। हम अब तक उसी गहन अंधकारयुक्त रात्रि में ही ठोकरें खाते रहे हैं। ज्ञान का सही स्वरूप समझाते हुए कहा है–

"जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणं॥"

–जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, विषय-वासनाओं की ओर जाते हुए चित्त का निरोध होता है, परिणामस्वरूप आत्मा विशुद्ध होती है, उसी को जिन-शासन में ज्ञान कहा है। और भी कहा–

"जेण रागा विरेज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणं॥"

अर्थात् जिससे जीव राग से विमुख होता है, श्रेय में अनुरक्त होता है एवं जिससे प्राणी जगत् के प्रति मैत्रीभाव बढ़ता है, उसी को जिन-शासन में ज्ञान कहा है। इस कसौटी पर परखकर आप स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि ज्ञान का कितना बड़ा महत्त्व है। ज्ञान अचूक अस्त्र है।

ज्ञान आत्मा की किरण है, ज्ञान आत्मा का निजत्व गुण है। यह सदैव हमारे पास विद्यमान है, केवल उसे प्रगटाने की, आवरण को हटाकर उसके ज्योतिर्मय स्वरूप को देखने की आवश्यकता है। यह ज्ञान केवल शास्त्रों के अध्ययन में नहीं है, विविध प्रकार की वेश-भूषा धारण करनी भी नहीं है। कोई नाना प्रकार से काव्यकला दिखाकर अपने आप को ज्ञानी सिद्ध करना चाहता है तो कोई गाने-बजाने में निपुणता दिखाकर। ये सब सांसारिक चातुर्य को प्रकट करने वाले करतब (खेल) मात्र हैं, वास्तविक ज्ञान तो कस्तूरी मृग की कस्तूरी के समान सदैव हमारे साथ ही है, उसे प्रकट करना आवश्यक है। इसे प्रगटाने के लिए भी दूसरा कोई हमारा सहायक नहीं होगा, हमें स्वयं ही पुरुषार्थ करना होगा। इसलिए पाश्चात्य विद्वान् यंग ने कहा है—बादल चाहे पदवियाँ और जागीरें बरसा दे, दौलत चाहे हमें ढूँढ़े, लेकिन ज्ञान को तो हमें ही खोजना होगा। अतः ज्ञान-प्राप्ति में हम स्वयं प्रयत्नवान बनें तभी हमारे लिए मानव-जीवन प्राप्त करने की सार्थकता है।

● ●

दूसरा फल : गुरु-पर्युपास्ति : गुरु-सेवा

प्रथम फल–जिनेन्द्र पूजा की बड़े विस्तार के साथ चर्चा हम कर चुके हैं। अब दूसरे फल–गुरु-पर्युपास्ति की चर्चा करनी है। गुरु-पर्युपास्ति में दो पद हैं–गुरु + पर्युपास्ति = गुरु-पर्युपास्ति। सबसे पहले गुरु शब्द पर विस्तृत रूप में चर्चा करेंगे।

गुरु का अर्थ

"गु शब्दस्त्वन्धकारस्य, रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधत्वाद, गुरुरित्यभिधीयते॥"

–'गु' का अर्थ है–अन्धकार। 'रु' का अर्थ है–नाश करने वाला। जो अज्ञान अन्धकार को नष्ट करता है, वह गुरु है। भारतीय संस्कृति के अमर गायकों ने गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है–

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवे नमः॥"

–गुरु ब्रह्मा, विष्णु व महेश्वर का रूप है। यदि अपने चिन्तन की मनोभूमि पर उतरते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि वास्तव में गुरु ब्रह्मा, विष्णु व परमेश्वर का रूप ही नहीं, बल्कि परमात्मा का रूप भी है। क्योंकि गुरु ८४ लाख जीव योनियों में अनन्त काल से भटकती हुई इस आत्मा को संसार-सागर से पार उतारने का मार्ग ही नहीं दिखाते, बल्कि सदा के लिए भव सिन्धु से पार भी उतार देते हैं। जीवन नैया को संसार भँवर से तथा विषय-कषाय रूप मगरमच्छों द्वारा ग्रसने से बचाने वाले खिवैया सच्चे गुरु का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

एक जिज्ञासु ने एक विचारक से पूछा–

"किं दुर्लभम् ?"

–इस संसार में दुर्लभ क्या है? विचारक ने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् जिज्ञासु से कहा–"इस संसार में समस्त वस्तुएँ मिलना सरल है, सहज है, लेकिन सद्गुरु का मिलना अत्यन्त ही दुर्लभ है।" भारतवर्ष में लगभग ९० लाख के करीब साधुओं एवं गुरुओं की संख्या है। जिनके पास रहने के लिए भव्य भवन हैं, घूमने

के लिए हाथी, घोड़े और कारें हैं। मौज-मेला मनाने के लिए जिनके पास तिजौरियाँ भरी पड़ी हैं। क्या वस्तुतः वे गुरु हैं? क्या वास्तव में वे गुरु कहलाने के अधिकारी हैं? नहीं। ऐसे ऐशोआराम में फँसने वाले गुरु नहीं कहला सकते। वास्तव में गुरु कहलाने के अधिकारी तो वे हैं, जो जर-जोरू-जमीन के त्यागी, इच्छाओं, आकांक्षाओं, वांछाओं, वासनाओं से दूर केवल प्रभु-चिन्तन में, आत्म-दर्शन में लीन हैं, वे गुरु कहलाते हैं।

गुरु मार्गदर्शक

आज के भौतिक युग की चकाचौंध में फँसे हुए मानवों के मानस में धार्मिक संस्कार द्वारा संसार-समुद्र से पार करने वाले हैं और धार्मिक संस्कार भरने का अथक प्रयत्न करते हैं गुरु। जब कभी भी भौतिकता में फँसा हुआ यह आत्मा आत्मिक सुखों को भूलकर भौतिक सुखों को सुख मानकर उसी में ही निद्रालीन हो जाता है, तब गुरु ही उसे जाग्रत करके आत्मिक सुखों की ओर अग्रसर करते हैं, वे ही गुरु होते हैं।

"न विना यान पात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः।
नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः॥" —*आदिपुराण*

—जैसे जहाज के बिना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, वैसे ही गुरु के मार्गदर्शन के बिना संसार-सागर का पार करना अत्यन्त कठिन है।

मनुष्य के जीवन में सद्गुरु की प्राप्ति होना एक महान् उपलब्धि है। गुरु एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति है, जो मनुष्य को नर से नारायण, जन से जिन और आत्मा को परमात्मा बना देती है। इन्सान से भगवान बना देती है। '*योगवाशिष्ठ*' में कहा है—

"गुरूपदेशेन विना नात्मगमो भवेत्।"

—गुरु के उपदेश बिना आत्म-तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में गुरु का पद सबसे ऊँचा है। कोई दूसरा पद इसकी समानता नहीं कर सकता। गुरु जीवन नौका का नाविक है, संसार के काम, क्रोध, मान, माया एवं लोभ आदि भयंकर आवर्तों में से वह हमको सकुशल पार ले जाता है। भारतीय संस्कृति की अध्यात्म-साधना में इसी कारण से गुरु को मार्गदर्शक कहा गया है।

सद्गुरु श्रेष्ठ कलाकार

सद्गुरु जीवन का एक श्रेष्ठ कलाकार है, जो जीवनरूपी अनघड़ पत्थर को

सुघड़ प्रतिमा का रूप देकर उसकी गौरव-गरिमा में अभिवृद्धि करता है। किसी कवि ने भी कहा है–

"गुरु कारीगर सारिखा, टांची वचन विचार।
पत्थर से प्रतिमा करे, पूजा लहै अपार॥"

–कलाकार जैसे एक अनघड़ पत्थर को ऐसी सुन्दर आकृति प्रदान करता है जिसे देखते ही दर्शक आनन्द-विभोर हो जाता है, वैसे ही सद्गुरु भी असंस्कारी आत्मा को ऐसी संस्कारी बना देता है। गुरु को नमस्कार करते हुए कहा है–

"अज्ञानतिमिरान्धाना, ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मैश्रीगुरवे नमः॥"

अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धकार से जो अन्धे बने हैं, जिनके नेत्र बन्द हैं, उन्हें (उनके नेत्रों को) जो ज्ञान के सुरमे की शलाका से खोल देते हैं, अज्ञान के अन्धकार को ज्ञान से मिटा देते हैं, वैसे गुरु को हमारा नमस्कार है। 'भागवत् पुराण' में महर्षि दत्तात्रेय का वर्णन आता है कि महर्षि दत्तात्रेय ने २४ गुरु किये। जैसे–पृथ्वी, जल, आकाश आदि जहाँ से उनको गुण प्राप्त हुए, उसी को उन्होंने गुरु मान लिया। गुरु वही है, जो हमको रास्ता बताये। इसलिए गुरु का स्थान सबसे महान् तथा ऊँचा है। महात्मा कबीरदास अपने शब्दों में कह रहे हैं–

"कबीर ते नर अन्ध हैं गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥"

–यदि भगवान रुष्ट हो जाये तो सद्गुरु बचा सकता है, किन्तु सद्गुरु रुष्ट हो जाये तो भगवान की भी शक्ति नहीं जो उसे उबार सके।

गुरु महिमा

'व्याकरणशास्त्र' के अनुसार स्वर दो प्रकार के हैं–ह्रस्व और दीर्घ। ह्रस्व स्वर–अ, इ, उ इत्यादि। दीर्घ स्वर–आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ। दीर्घ स्वर को गुरु कहते हैं।

'ज्योतिषशास्त्र' के अनुसार नौ प्रकार के ग्रह हैं–सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुद्ध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। नौ प्रकार के ग्रहों में पाँचवाँ जो ग्रह है वह वृहस्पति ग्रह है। जिसे गुरुग्रह की संज्ञा दी जाती है। गुरु की महिमा गाते हुए संस्कृत विद्वान् ने कहा है–

"ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजा मूलं गुरोः पदम्।
शास्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्ष मूलं गुरोः कृपा॥"

–गुरु की मूर्ति ध्यान का मूल कारण है, गुरु के चरण पूजा के मूल कारण हैं। गुरु की वाणी जगत् के समस्त शास्त्रों का मूल कारण है और गुरु की कृपा मोक्ष-प्राप्ति का मूल कारण है। जैन आगम में गुरु को छत्तीस गुणों का धारक कहा गया है।

देव, गुरु, धर्म त्रिमूर्ति

सर्वप्रथम देव, गुरु और धर्म की चर्चा करेंगे, बाद में छत्तीस गुणों का वर्णन होगा।

"अरिहंतो महदेवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण पण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्तं मए गहिअं॥"

अर्थात् अरिहन्त मेरे देव, सुसाधु, मेरे गुरु तथा जिन प्ररूपित मेरा धर्म है। इस सम्यक्त्व को मैंने जीवन पर्यन्त के लिए ग्रहण किया है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दो प्रतिपक्षी शब्द हैं। मिथ्यात्व का अर्थ है–विपरीत धारणा तथा सम्यक्त्व का अर्थ है–सही धारणा। सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना कोई साधना फलीभूत नहीं होती। जब तक मार्ग का भान न हो, तब तक साधना का क्या अर्थ है? सम्यक्त्व के लिए तीन चीजें आवश्यक मानी गई हैं। ये तीनों अमूल्य हैं। किसी बाह्य मूल्य पर ये नहीं मिल सकतीं। इनके लिए तो आत्मा का मूल्य चुकाना पड़ता है।

अरिहन्त देव का स्वरूप

"सर्वज्ञो जितरागादि, दोषस्त्रैलोक्य-पूजितः।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥" *–योगशास्त्र*

–जो सर्वज्ञ हो, राग-द्वेष आदि आत्मिक विकारों को जिसने पूर्ण रूप से जीत लिया हो, जो तीनों जगत् के द्वारा पूज्य हो और यथार्थ वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक हो, ऐसे अर्हन्त भगवान ही सच्चे देव हैं। देव शब्द यहाँ स्वर्ग में रहने वाले देव, देवी, मेघ, ब्राह्मण या राजा आदि का वाचक नहीं, परन्तु उस परम तत्त्व का संकेत करता है, जिसकी आराधना-उपासना करने से मनुष्य में धर्म का दिव्य तेज प्रकट होता है और वह उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास प्राप्त करता जाता है। आत्मिक दिव्यता से युक्त पुरुष को यहाँ देव कहा गया है।

अरिहन्त, अर्हंत, अरुहन्त तीन रूप

'अरि' का अर्थ है–शत्रु। 'हन्त' का अर्थ है–हनन करना। जिन्होंने बाह्य और आभ्यंतर राग-द्वेष शत्रुओं का हनन कर दिया है, वे अरिहन्त कहलाते हैं। सुरेन्द्र, नरेन्द्र आदि द्वारा पूजनीय होने के कारण वे अर्हंत कहलाते हैं। और कर्मांकुर को समूल नष्ट करने के कारण वे अरुहन्त कहलाते हैं।

गुरु का स्वरूप

देव-तत्त्व के बाद दूसरा तत्त्व है–गुरु। प्रत्येक सम्यक्त्वी सम्यक्त्व ग्रहण के समय यह प्रतिज्ञा करता है–

"सुसाहुणो गुरुणो।"

अर्थात् सुसाधु, श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं। 'योगशास्त्र' में कहा गया है–

"महाव्रत धरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः॥"

–अहिंसा आदि ५ महाव्रतों के धारक परीषह एवं उपसर्ग आने पर भी व्याकुल न होने वाले धीर, भिक्षा से ही जीवन निर्वाह करने वाले, सदैव समभाव में रहने वाले और सद्धर्म का उपदेश देने वाले गुरु कहलाते हैं।

धर्म का स्वरूप

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित मार्ग ही वास्तव में धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में–

"वत्थु सहावो धम्मो।"

–प्रत्येक वस्तु का अपना जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है। धर्म जीवन का बहुत बड़ा बल है। आध्यात्मिक जीवन का प्राण ही धर्म है।

गुरु की महिमा

गुरु का माहात्म्य भी तभी तक है, जब तक कि वह निर्लोभी है, विषय-कषाय से दूर है। जहाँ उसमें किसी भी दोष का संचार हुआ कि उसका सारा माहात्म्य समाप्त हो जाता है। संसार में सभी दुर्गुण एक कुमति के पीछे चलते हैं और सभी सद्गुण एक सुमति के पीछे चलते हैं। सद्गुरु की शिक्षा के प्राप्त होते ही सभी गुण स्वयमेव प्राप्त होने लगते हैं। किन्तु गुरु-भक्ति के बिना कुछ भी नहीं है। सदाचार या चारित्र का प्रसार गुरु-भक्ति के होने पर ही होता है। अतः कहा गया है कि–

"गुरौभक्तिर्गुरौभक्तिर्गुरौभक्तिः सदाऽस्तु मे।
चारित्रमेव संसार-वारणं मोक्षकारणम्॥"

—मेरे हृदय में गुरु के प्रति भक्ति सदा ही बनी रहे, सदा ही बनी रहे। क्योंकि उनके प्रताप और प्रसाद से ही भव्य जीवों के हृदय में चारित्र का भाव जाग्रत होता है और यह चारित्र ही संसार का निवारण करने वाला है और मोक्ष का कारण है।

लोग कहते हैं कि अरिहन्त, सिद्ध बड़े हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश बड़े हैं। परन्तु उनका यह बड़प्पन किसने बताया? क्या हमने उनको देखा है या उनसे बातचीत की है? उनके गुणों को किसने बताया? अरिहन्त और सिद्ध की पहचान किसने बतलायी? पंच परमेष्ठियों के गुण किसने बतलाये? सबका उत्तर यही है कि गुरु के प्रसाद से ही यह सब जानकारी प्राप्त हुई है। यदि गुरु न होते तो संसार में सर्वत्र अन्धकार ही दृष्टिगोचर होता। इसलिए सबसे बड़ा पद गुरु का है। इसी कारण 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा है—

"जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा णं पंचएण काएण वाया मणसावि णिच्चं॥"

अर्थात् जिसके समीप धर्म के पदों को सीखे उसका सदा विनय करना चाहिए, उसको पंचांग नमस्कार करें और मन, वचन, काया से उसका नित्य सत्कार करें।

तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी पूर्व-भव में गुरु के प्रसाद से दर्शन-विशुद्धि आदि बीस बोलों की आराधना करके तीर्थंकर नामगोत्र का बन्ध करते हैं। पुनः तीर्थंकर बनकर जगत् का उद्धार करते हुए मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यह सब गुरु-भक्ति का प्रसाद है। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि किसी कवि ने भी कहा है—

"गुरु बिन ज्ञान न होवे भाई, ऋषियों ने यही बात सुनाई।
गुरु जगत् हितकार .... गुरु के ....॥"

—प्रत्येक साधक को गुरु के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति का भाव रखना चाहिए। क्योंकि साधक पर सद्गुरु का इतना विशाल ऋण है कि उसका बदला नहीं चुकाया जा सकता। गुरु की महत्ता अपार है। अतः प्रत्येक धर्म-साधना के प्रारम्भ में सद्गुरु को श्रद्धा-भक्ति के साथ अभिनन्दन करना चाहिए।

आत्म-साधना के ज्ञान को गुरु ही प्रदान कर सकता है, आगम ज्ञान के स्वामी सद्गुरु होते हैं, सद्गुरु की चरणोपासना ही सम्यग्ज्ञान प्रदान कर सकती है। सद्गुरु से विमुख ज्ञान विमुख ही रहता है। संसार में स्वयं दक्ष बने हुए व्यक्तियों

के होते हुए भी अपने-अपने विषय के अनुभवी विशेषज्ञों का महत्त्व रहता ही है। अनुभवी विशेषज्ञ से थोड़े ही समय में विशेष जानकारी प्राप्त हो सकती है। अतः गुरु-सेवा का अस्तित्व रहेगा ही।

जैनाचार्यों ने 'णीरय' (नीरज) शब्द दिया है, जिसके दो अर्थ हैं–कमल और निर्मल। गुरु-चरण को कमल की उपमा दी गई है। जैसे–

"जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।"

–कमल जल में उत्पन्न होता है, फिर भी कमल जल एवं कीचड़ से निर्लिप्त होता है। ऐसे ही गुरु भी कामभोगों एवं विषय-विकारों से निर्लिप्त होते हैं। दूसरी उपमा निर्मल की दी है, परन्तु गुरु-चरण नीरज = रज से रहित, निर्मल इसलिए हैं कि उन चरणों की उपासना जीवों को कर्मरूपी रज से रहित बनाती है।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए गुरु की पर्युपासना

जैसे दीपक से दीपक जलता है, वैसे ही गुरुदेव विनीत शिष्य के हृदय में स्थिर ज्ञान-ज्योति को सँजो देते हैं।

पर्युपास्ति में तीन शब्द हैं–परि + उप + अस्ति = पर्युपास्ति। 'परि' का अर्थ है–चारों ओर से, 'उप' का अर्थ है–समीप, 'अस्ति' का अर्थ है–रहना। गुरु के समीप रहना ही गुरु-पर्युपास्ति है। विनीत शिष्य का हृदय ही ज्ञान की किरण को पाने के लिए योग्य पात्र होता है। सद्गुरु ज्ञान योग्य पात्र को पाकर उसमें उसे रखने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। गुरुदेव के द्वारा प्रसन्नता से प्राप्त ज्ञान-ज्योति चिरकाल पर्यन्त स्थिर रहती है।

विनय अर्थात् अहंकाररहित व्यवहार करना, गुरुदेव के दर्शन से प्रसन्न होना, हृदय में उनके प्रति बहुमान रखना, उनके सन्मुख रहना या उन्हें अपनी दाहिनी बाजू रखना, उनसे न अधिक दूर और न अधिक समीप रहना, उचित आसन से बैठना, अन्यमनस्क नहीं होना आदि।

पंचांग झुकाकर वन्दन करना, तीन बार तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दन करना, उचित शब्दों में नम्रतापूर्वक जिज्ञासा अभिव्यक्त करना, यथासमय यथायोग्य प्रश्न करना, ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् हर्ष व्यक्त करना आदि।

तीन पर्युपासनाएँ करनी चाहिए

(१) **मानसिकी पर्युपासना**–धर्मानुराग से युक्त गुरुजन के प्रति भक्तिभाव और उनके द्वारा बतलाये जाने वाले विषय में प्रीति सहित रुचि रखना।

(२) **वाचिकी पर्युपासना**–विषय प्रवाह के बीच असम्बद्ध वचन नहीं बोलना, सम्मानपूर्वक जिज्ञासा दृष्टि से प्रश्न करना, यथासमय गुरुवचन को 'तहत्ति' आदि कहकर स्वीकार करना।

(३) **कायिकी पर्युपासना**–नम्रता से युक्त स्थिर आसन, नमस्कार मुद्रा, गुरुजन की ओर उल्लासमय दृष्टि रखना ही विनम्रता का लक्षण है।

पर्युपासना से लाभ

पर्युपासना अर्थात् एकाग्र होकर समीप बैठना, गुरु-पर्युपासना अर्थात् एकाग्रचित्त होकर गुरुदेव के समीप बैठना। इसे गुरु-सेवा भी कहते हैं। गुरु के पास वृथा बैठे रहना पर्युपासना नहीं है। किन्तु तत्त्व जिज्ञासु बनकर श्रवण करने की इच्छा से ही उनके समीप बैठना ही सच्ची गुरु-पर्युपासना है। गुरुदेव के निकट बैठने से उनके दुःख-दर्द को जानने का अवसर प्राप्त होता है। जिससे यथायोग्य वैयावृत्य की जा सकती है। जिज्ञासा से श्रवण करने से तत्त्व प्रीति जाग्रत होती है, परमार्थ का परिचय होता है और आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। गुरुदेव भी योग्य शिष्य पाकर प्रसन्न होते हैं और जिन-प्रवचन का दान देकर जिन-शासन के प्रभावक होते हैं। इस प्रकार गुरु-पर्युपासना दोनों के लिए सुख और शुभ भाव की प्रदायिका होती है। गुरु-आज्ञा का पालन, गुरु-संकेतानुसार कार्य, गुरु-विनय, गुरु-सेवा आदि ही गुरु-पर्युपास्ति है।

गुरु-सेवा मोक्ष का राजमार्ग

"नाणस्स सव्वस्स पगासएणं,
अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए।"

–सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से मोक्ष प्राप्त होता है। अज्ञान और मोह के अभाव से सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश होता है। अज्ञान और मोह का अभाव राग-द्वेष के नाश से होता है। अज्ञानी और अव्रती जनों की संगति को छोड़कर सर्वविरति गुरुदेव और स्थविर सन्तों की सेवा करते हुए सूत्रार्थ का चिन्तन करना ही राग-द्वेष के नाश और ज्ञान के प्रकट करने का उपाय है। पुत्र की सेवा पिता को प्रसन्न करती है, वैसे ही शिष्य के द्वारा की गई सेवा गुरुदेव को प्रसन्न करती है। पुत्र पिता की सेवा करके उऋण होता है, वैसे ही शिष्य गुरु और वृद्ध संतों की सेवा से कर्म का कर्ज चुकाता है, निर्जरा करता है और निर्जरा ही ज्ञानादि के प्रकाश में कारण है।

पिता की प्रसन्नता धन आदि का उत्तराधिकार दिलाती है, वैसे ही गुरु की संतुष्टि ज्ञान का रहस्य और उनके आत्मिक अनुभव के महादान की प्राप्ति करवाती है।

गुरु के प्रति विनम्र भाव

सद्गुरु के प्रति अप्रीति, अविनय, अभक्ति आदि का नाश होना और प्रीति आदि का उदय होना उनके प्रति विनम्रता है। बुद्धि और भाव हृदय के नेत्र हैं। यद्यपि बुद्धि मतिज्ञान का अंश है। परन्तु सहृदय व्यक्ति की बुद्धि ही प्रशस्त होती है। इसलिए बुद्धि को हृदय का नेत्र माना है और हृदय की आँख के रूप में विवेक की प्रसिद्धि है ही। भाव को तत्त्व उपलब्धि में निकटतम कारण होने और सद्बुद्धि का सहचारी होने के कारण नेत्र तुल्य माना है। बुद्धि और भाव कितने भी तीव्र हों, परन्तु सम्यग्ज्ञान के अभाव में वे तत्त्वों को सही रूप में नहीं जान सकते हैं। यदि जानते हैं तो सम्यक् रूप से ग्रहण प्रायः नहीं कर पाते हैं। परन्तु ज्ञानरूपी ज्योति से तत्त्वों को सम्यक् रूप जानकर असंदिग्ध रूप में ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं।

गुरु चिकित्सक हैं

जिनाज्ञा की आराधना से ही भवसागर से पार हो सकते हैं। जिनाज्ञा की समझ और श्रद्धा स्वच्छंदता के कारण प्राप्त नहीं हो सकती है। स्वच्छंदता की परिणति दो रूपों में होती है–हितशिक्षा को अनसुनी करना, तद्रूप प्रवृत्ति से दूर रहना और सद्गुणों में अरुचि करना, उनसे विपरीत प्रवृत्ति करना। करुणा के सिन्धु गुरुदेव कुशल शल्य-चिकित्सक के समान धृष्टता और दुष्टता रूप व्रण (घाव) की यत्नपूर्वक शल्य-चिकित्सा करके स्वच्छंदता रूप रोग का नाश करते हैं। जिससे जीव स्वाधीन बनता है और जिनाज्ञा की आराधना करने की योग्यता सम्पादन करते हैं।

मोक्ष हेतु गुरु-कृपा आवश्यक

साधारण मनुष्य सीढ़ियों के अवलम्बन के बिना भवन की ऊपरी मंजिल पर नहीं पहुँच सकता। स्वच्छंद मनुष्य भी साधना के क्षेत्र में साधारण मनुष्य ही है। क्योंकि वह मोक्षमार्ग के प्रेरक गुरुजन से विमुख रहकर आध्यात्मिक क्षेत्र में दरिद्र ही रहता है। स्वच्छंद मनुष्य की आत्मिक शक्तियों का अंशमात्र भी विकास नहीं होता है। उस पर सद्गुरु की कृपा का अवतरण नहीं हो सकता। यदि उस पर गुरु-कृपा हो तो वह उसे पहचान ही नहीं पाता और उसकी अवहेलना करता है। परन्तु वह शाश्वत सुख या स्वतंत्रता रूप मोक्ष की चाह तो रखता ही है। मोक्ष की प्राप्ति का क्रमबद्ध मार्ग है। गुरु-कृपा उस मार्ग का एक चरण है। अतः गुरु-कृपा

से विमुख रहकर मोक्षमार्ग का आगला कैसे पाया जा सकेगा? इस प्रकार गुरु-कृपा के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

जहाँ तक जीव सब कर्मों से मुक्त नहीं हो जाता है, वहाँ तक जीव को भवान्तर में गमन करना ही पड़ता है। एक भव में की हुई ज्ञान आराधना भवान्तर में कभी-कभी ही साथ चलती है। वह भी पूर्णतः नहीं। अतः विस्मृत ज्ञान की पुनः जागृति के लिए गुरु के संयोग की आवश्यकता रहती है। इसलिए भवान्तर में भी गुरु की चरण-सेवा की प्राप्ति की भावना की गई है। इसी भावना को दृढ़ करने के लिए जीवन के अन्तिम क्षणों में 'साहू सरणं पवज्जामि' रूप संकल्प किया जाता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में किया हुआ सद्संकल्प अगले भव में गुरु के संयोग की प्राप्ति का सहायक बनता है। इस प्रकार नित्य प्रति शरण की भावना करते रहने से गुरु के सामीप्य और भक्ति की भावना पुष्ट होती है। गुरु-चरण की सेवा और सद्भक्ति से हृदय में ज्ञान दीप सदैव जलता रहता है और जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ भय का आवास नहीं रह सकता है। ज्ञान की ज्योति और भयों से मुक्ति मोक्षमार्ग की मंजिल तय करने के लिए जीव को तत्पर बनाती है।

गुरु की विनय करना, उनकी आज्ञा-पालन आदि से वे प्रसन्न होते हैं। उनकी सेवा से शिष्य का उनके प्रति हृदय में स्थान होता है। जब साधक गुरु का सच्चा अन्तेवासी बनता है, तब उनका प्रसन्न मन शिष्य को अनायास मंगलमय आशीर्वाद प्रदान करने लगता है। गुरु ही देव और धर्म का वास्तविक बोध प्रदान करते हैं। जिससे सुदेव और सुधर्म में भक्ति जाग्रत होती है। सम्यक् भाव से की हुई सेवा से प्रसन्न हुए गुरु शिष्य को एक अद्भुत ज्ञान की किरण दे देते हैं कि जीवन का कल्याण हो जाता है। जीवन में एक अनूठा प्रकाश जाग्रत हो जाता है।

गुरु की उपमाएँ

पूज्यपाद कविकुल कमल दिवाकर श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज गुरु महिमा का पद्य में गुणगान करते हुए, कुछ उपमाओं से उपमित करते हुए कह रहे हैं–

"जैसे कपड़े को थान, दरजी वेतत आण,
खण्ड-खण्ड करें जान, देत सो सुधारी है।
काठ के ज्यों सूत्रधार, हेम को कसे सुनार,
माटी के ज्यों कुम्भकार, पात्र करे तैयारी है॥
धरती को किसान जाण, लोहे को लुहार मान,
सिलावट सिला आण, घाट घड़े भारी है।

कहत है त्रिलोक ऋषि, सुधारे ज्यों गुरु शिष्य,
गुरु उपकारी नित, लीजे बलिहारी है॥
गुरु मित्र गुरु मात, गुरु सगा तात,
गुरु भूप गुरु भ्रात, गुरु हितकारी है।
गुरु रवि गुरु चन्द्र, गुरु पति गुरु इन्द्र,
गुरु देत देवानन्द, गुरु पद भारी है॥
गुरु देत ज्ञान ध्यान, गुरु देत दान मान,
गुरु देत मोक्ष स्थान, सदा उपकारी है।
कहत है त्रिलोक ऋषि, भली-भली देवें सिख,
ऐसे गुरुदेव जी को, वन्दना हमारी है॥''

गुरु दर्जी–जैसे दर्जी कपड़े के थान को लेकर व्यक्ति के शरीर प्रमाण अनुसार कपड़े को कतरकर उस वस्त्र से पेंट, शर्ट, बुशर्ट, कुर्त्ता, कमीज, कच्छा, बनियान आदि सींकर तैयार कर देता है। वैसे ही गुरु शिष्य की प्रकृति के अनुसार और उसकी शक्ति के अनुसार दुर्गुणों की कतर दूर करके, सद्गुणों का संगठन कराके, सद्गुणों का बीजारोपन करके, उसे धर्म से, आत्मा से जोड़ देता है।

गुरु बढ़ई–जैसे बढ़ई लड़की लेकर उससे खिड़की, दरवाजे, चौखट, बक्सा, चकला-बेलना, हल-जुआ, सीढ़ी, मेज, कुर्सी, खड़ाऊँ, पायें आदि भाँति के बर्तन तैयार कर देता है। वैसे ही गुरु भी अनघड़ी लकड़ी के समान शिष्य को सुधारकर यथायोग्य व्याख्याता, कवि, तपस्वी, आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणाविच्छेदक, प्रवर्त्तक आदि की योग्यता उत्पन्न करता है।

गुरु सुनार–जैसे सुवर्णकार सोने को कसौटी पर घिसकर अग्नि में तपाकर उसकी परीक्षा करता है कि सोना शुद्ध है या नहीं। सुनार जैसे अनेक आभूषणों का निर्माण करता है। जैसे–कुण्डल, कंगन, हार, अँगूठी, पाजेब, चूड़ियाँ आदि बनाता है। इसी प्रकार गुरु शिष्य की योग्यता की परीक्षा करके तभी उसे शिष्य रूप में अपनाता है और शिष्य को योग्यता प्रदान करता है। शिष्य की योग्यता को देखकर उन्हें यथायोग्य कार्य सौंपता है।

गुरु कुम्भकार–कई बार ऐसा मालूम होता है कि गुरु शिष्य के प्रति अत्यन्त कठोर व्यवहार कर रहे हैं। गुरु के द्वारा किये जाते हुए कठोर व्यवहार को देखकर सुविनीत और समर्पित शिष्य उसे अपने लिए महान् हितकर समझता है, वह उन्हें अपना हितैषी और उपकारी समझता है, लेकिन जिसके हृदय में गुरु के

प्रति श्रद्धा नहीं है, विनय-भक्ति नहीं है, समर्पण भावना नहीं है, वह सोचता है कि गुरु मेरे पर अत्याचार कर रहे हैं, वे प्यार करने के बदले मुझे डाँट-फटकार करते हैं, मेरे किये हुए कर्मों की नुक्ताचीनी करते हैं, मेरे सामने मेरी कभी प्रशंसा नहीं करते, उल्टे आलोचना ही करते हैं, इसलिए वे मेरे प्रति द्वेष और दुर्भाव रखते हैं, वे मेरे शत्रु हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा है-

"जं मे बुद्धाणुसासंति, सीएण फरूसेण वा।
मम लाभोत्ति पेहाए, पयओ तं पडिसुणे॥
अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मण्णइ पण्णो, वेसं होइ असाहुणो॥"

प्रबुद्ध गुरुदेव मुझ पर कठोर या मृदु वचन एवं मन्द या कठोर अनुशासन का प्रयोग करते हैं। उसमें मेरा ही लाभ है, यह मानकर बुद्धिमान् एवं विनीत शिष्य ध्यानपूर्वक उनकी बातें सुने और उन्हें आश्वासन दे कि भविष्य में ऐसा नहीं होगा या जैसा आप कहते हैं, वैसा ही होगा। गुरु द्वारा किये जाने वाले कठोर अनुशासन के प्रयोग और दुष्कृत (अकृत्य) के लिए की गई प्रेरणा (वाचिक भर्त्सना) को देखकर प्राज्ञ शिष्य गुरु को अपना हितैषी मानता है। जबकि असाधु (दुर्जन या मूढ़) शिष्य उन्हें द्वेषी समझता है।

जिन शिष्यों के हृदय में गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति या विनय-बहुमानता होती है, वह गुरु के द्वारा दिये जाने वाले कठोर दण्ड एवं वचनों को अपने में रहे हुए दोषों, बुराइयों और दुर्वृत्तियों को निकालने और स्वयं को सुधारने का उपाय समझकर उन्हें महान् उपकारी मानते हैं। वे समझते हैं कि जिस तरह कुम्भकार घड़ा बनाते समय जब तक वह कच्चा होता है, तब तक ऊपर से लकड़ी के डण्डे से थपथपाता रहता है, लेकिन अन्दर वह हाथ भी रखता है, ताकि घड़ा फूट न जाए, उसी तरह गुरु अपने सुविनीत शिष्य को ऊपर से फटकारते हैं, दण्ड भी देते हैं। कठोर वचन भी कह देते हैं, लेकिन उनके अन्तर में शिष्य के प्रति लबालब प्यार होता है। कहा भी है-

"गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ है, घड़-घड़ काढ़े खोट।
अन्दर से रक्षा करे, बाहर मारे चोट॥"

-जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी लेकर उससे घड़ा, सुराही, कुल्हड़ आदि अनेक मिट्टी के बर्तन बनाता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य की पात्रता के अनुसार उसमें गुणों का समावेश करता है।

गुरु किसान–जैसे किसान अन्न की फसल को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम भूमि की शुद्धि करता है और फिर उसमें बीज बो देने पर भी रात-दिन सजग रहकर उनकी सुरक्षा बड़ी सावधानी और परिश्रम से करने के बाद ही अन्न को प्राप्त करता है। अर्थात् जिस प्रकार किसान को मिट्टी की पहचान होती है कि इस भूमि में अमुक फसल अच्छी तरह उगाई जा सकती है। उसी प्रकार गुरु को शिष्य की पात्रता के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान होता है और वह उन शिष्यों से उनकी योग्यता के अनुसार काम लेता है। जिस प्रकार किसान बंजर भूमि में खेती नहीं करता। इसी प्रकार गुरुवर्य कुशिष्य को न दीक्षित करता है और न ज्ञान दान देता है।

गुरु लुहार–जिस प्रकार लुहार लोहे को तपाकर घन से पीटकर स्वेच्छानुसार आकृति प्रदान करता है। उसी प्रकार गुरु शिष्य को साधना की अग्नि में तपाकर उसे वास्तविक साधुता प्रदान करता है।

गुरु शिल्पकार–एक मन्दिर में बड़ी भव्य प्रतिमा थी। प्रतिदिन प्रातः-सायं सैकड़ों भक्त आकर उसके चरणों में फल-फूल, नैवेद्य आदि चढ़ाया करते थे और प्रतिमा के सामने ही खड़े हुए एक खंभे से टिककर बैठते और प्रार्थना करते थे। यह सब देखकर खंभे को बड़ा दुःख होता था। पर करता क्या? क्रोध से जल-भुनकर रह जाता। आखिर एक दिन दोपहर को जब मन्दिर सुनसान था, खंभा प्रतिमा से बोला–

"यह क्या बात है? आखिर हम दोनों एक ही खान से निकले हैं, फिर भी सैकड़ों व्यक्ति आकर तुम्हारे चरणों में मस्तक झुकाते हैं, चढ़ावा चढ़ाते हैं और तुम्हारी पूजा करते हैं। मेरी ओर कोई दृष्टिपात भी नहीं करता, उल्टे मेरी ओर पीठ करके मुझसे टिककर बैठते हैं। यह मुझसे सहन नहीं होता।"

खंभे की बात सुनकर प्रतिमा मुस्कराई और दयार्द्र होकर बोली- "भाई ! तुम्हारा कथन सर्वथा सत्य है। हम दोनों का जन्म-स्थान एक ही है और दोनों के शरीर का निर्माण भी एक-सा ही हुआ है। किन्तु आज जो अन्तर तुम हमारे बीच देख रहे हो तथा मेरी पूजा होती देखकर दुःख का अनुभव कर रहे हो, उसका कारण सिर्फ यही है कि मेरे हितैषी शिल्पकार (मूर्तिकार) ने हथोड़े की असंख्य चोटें मुझ पर की हैं। नाना प्रकार से मुझे तराशा है और मेरे एक-एक अंग को टाँची मार-मारकर सुधारने का प्रयत्न किया है। मैंने वे चोटें हँसते हुए सहन कीं, कभी विरोध नहीं किया, एक आह तक जबान से नहीं निकाली। बस इसी का परिणाम है कि आज मैं पूजा के योग्य बनी हूँ।"

वस्तुतः जिस प्रकार प्रतिमा मूर्तिकार के द्वारा गढ़ी जाती है, ठीक उसी प्रकार मानव अपने गुरु के द्वारा गढ़ा जाता है और तभी वह अपनी आत्मा को शुद्ध बनाता हुआ एक दिन परमात्मपद को भी प्राप्त कर जगत् पूज्य बन सकता है। कहा भी है–

"गुरु कारीगर सारिखा, टांची वचन विचार।
पत्थर से प्रतिमा करें, पूजा लहै अपार॥"

अर्थात् जिस प्रकार शिल्पकार अनघड़ पत्थर को घड़कर उसे देवता की, पात्र की या वस्तु की आकृति प्रदान करता है। उसी प्रकार गुरु शिष्य के अवगुणों को दूर कर, उसमें गुणों का समावेश करके उसे जगत् पूज्य बना देता है।

जिस प्रकार उपरोक्त व्यक्ति अपनी-अपनी वस्तुओं को काट-छाँटकर सुधार करते हैं, इसी प्रकार गुरु शिष्यों का सुधार करने वाले, सदा उपकार करने वाले हैं। हम उन पर बलिहारी जाते हैं। आगे पूज्यपाद, कविरत्न श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज शेष और उपमाओं पर प्रकाश डालते हुए कह रहे हैं–

गुरु मित्र–अच्छा मित्र अपने मित्र के पापों का निवारण करता है और उसे हित में लगाता है तथा उसकी गुप्त बातों को छुपा लेता है और गुणों को प्रकट करता है। विपत्ति के समय अर्थात् विपत्ति के आने पर साथ देता है और समय आने पर दान देता है, सहायता करता है। यह सद्मित्र की पहचान है। किसी कवि ने भी कहा है–

"मित्र ऐसा कीजिए, जैसे लोटा डोर।
गला फँसावे अपना, शीतल करे जु और॥
मित्र ऐसा कीजिए, ढाल सरीखा होय।
सुख में तो पीछे रहे, दुःख में आगे होय॥"

जिस प्रकार मित्र अपने मित्र की विपत्ति के समय सहायता करता है या संकटकाल के समय में सहायक होता है। उसी प्रकार गुरु शिष्य के प्रत्येक कष्ट को दूर करते हैं। जैसे मित्र समय-समय पर अच्छी सलाह देता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य का मार्गदर्शन करता है। मित्र के समान व्यवहार करता है।

गुरु माता–जैसे माता बच्चे में सुसंस्कार भरती है, माता जैसे अँगुली पकड़कर चलना सिखाती है और उसे भलीभाँति शिक्षित करती है। वैसे गुरु (माता) बाँह

पकड़कर मोक्ष की राह बताते हैं, क्योंकि गुरु सदा भावपूर्वक अविचल मोक्ष निवास के कामी रहते हैं।

जीवन में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्या सममुच आप संसार से–कर्म से अब रहित होना चाहते हो? मृत्यु का निवारण चाहते हो? अनन्त जन्मों से विभिन्न रूप में अनेक माताओं की गोद में जन्म लेकर अब जन्म का अन्त चाहते हो? तो आइए, परम गुरु माता की गोद में। गुरु धर्म का रहस्य समझाते हैं, साथ-साथ मोक्ष का मूल प्रदान करते हैं। परम देव से मिलन कराना इन महागुरु का ही काम है। इनके अभाव में देव मिलन और धर्म का भावन दोनों अपूर्ण हैं। जन्म-जन्म के पापों को–दुष्कर्मों को चकनाचूर करने की महाशक्ति इस परम वत्सला गुरु माता के कृपाकर-कमलों में है।

हे साधक ! भव जल से पार कराने वाले गुरु ही हैं। क्योंकि हमारी जीवनरूपी नाव के खेवैया गुरु हैं। जो स्वयं तिरते हैं और अन्य को भी तारते हैं। माँ बच्चे में सुसंस्कार भरती है, उसे भली शिक्षित करती है। उसी प्रकार गुरु शिष्य में शुभ संस्कारों का बीजारोपण करते हैं और उसे ज्ञान दान द्वारा सुशिक्षित करते हैं। सुसंस्कार-सम्पन्न बनाते हैं।

गुरु सगा–जिस प्रकार सगे-सम्बन्धी समय-समय पर सहायक होते हैं। उनमें आपस में निकटता होती है। अपनत्वभाव से सम्बन्धी जन दुःख-सुख में साथ देते हैं। उसी प्रकार गुरु शिष्य को अपना समझकर सगे-सम्बन्धी के तुल्य जानते हुए वात्सल्यभाव रखते हैं। अपनत्वभाव से उसे समझाते हैं और सही मार्गदर्शन करते हैं।

गुरु पिता–जैसे पिता पुत्र को बुराइयों से रोकता है, कुमार्ग से हटाता है, कुसंगति से दूर करता है। अगर पुत्र से कोई अपराध हो जाता है, उसे दण्डित भी करता है, कारोबार में लगाता है, प्रत्येक कार्य में सुशिक्षित करता है, उसे निपुण बनाता है। वैसे ही गुरु भी अपने शिष्य को बुराइयों से बचाता है। किन्तु उससे कोई अपराध हो जाता है, दण्ड देकर उसका सुधार करता है। ज्ञान-ध्यान में लगाकर निपुण बनाता है। स्वाध्याय कराकर विद्वान् एवं एक अच्छा कवि, लेखक, व्याख्याता, हर कला में निपुण बनाता है। शिष्य की हर कमी को दूर कर उसके जीवन को शुद्ध तथा सुयोग्य बनाता है।

गुरु भूप–भूप का अर्थ है–राजा। 'ताओ उपनिषद्' में कहा गया है–जो देश के कड़े बोल सहता है, वही देश का स्वामी है। जो देश के लिए दुःख सहता

है, वही सच्चा राजा है। 'पंचतन्त्र' में राजा की विशेषताएँ तथा उपयोगिता बताते हुए कहा है–

"राजा बन्धुरबन्धूनां, राजा चक्षुरचाक्षुषाम्।
राजा पिता च माता च, सर्वेषां न्यायवर्तिनाम्॥"

अर्थात् राजा अबन्धुओं का बन्धु है, राजा अन्धों का नेत्र (मार्गदर्शक) है, राजा सभी न्यायवर्ती व्यक्तियों का माता-पिता है। 'नीतिवाक्यामृत' में कहा है–

"पर्जन्यमिव भूतानामाधारः पृथवीपतिः।"

–राजा प्राणियों के लिए मेघ की तरह आधारभूत है। आगे फिर कहा है–

"न राज्ञः परं दैवतम्।"

–राजा से बढ़कर कोई देवता नहीं है। राजा ही अच्छे और बुरे का ज्ञान रखने वाला होता है। राजा अपनी प्रजा पर अनुशासन करता है। जिस प्रकार राजा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से काम लेता है, अच्छा कार्य करने पर उन्हें प्रोत्साहन देता है। उसी प्रकार गुरु सभी शिष्यों को अनुशासन में रखते हुए संयम के लिए प्रोत्साहित करते हैं, संयम में दृढ़ करते हैं।

गुरु भ्राता–भ्राता का अर्थ है–भाई। जिस प्रकार भाई-भाई का ख्याल रखता है, उस पर विपत्ति आने पर आगे होकर सामना करता है, सुख-दुःख का साथी होता है, खून का रिश्ता होने के कारण संवेदना अनुभव करता है। उसी प्रकार गुरु शिष्य को भ्राता के समान अपना जानकर उसके सुख-दुःख में सहायक बनता है। विपत्ति के समय में रक्षा करता है।

गुरु रवि–रवि का अर्थ है–सूर्य। जो दिन है, उसे हमने सूर्य के नाम से पुकारा है। भारतीय ज्योतिष में सूर्य को अधिकार और शक्ति का प्रतीक माना है। सूर्य को प्रकाश-पुँज और जीवनी-शक्ति का स्रोत कहा गया है। संसार के जितने भी वृक्ष हैं, वे सब सूर्य के प्रभाव से ही हरे-भरे, पल्लवित-पुष्पित रहते हैं। सूर्य की ऊर्जा पाकर ही खेतों में धान लहलहाता है, सब वनस्पतियाँ और औषधियाँ विकसित और वृद्धिंगत होती हैं, वृक्षों पर मधुर फल झूमते हैं, प्राणियों को जीवनी-शक्ति प्राप्त होती है। सूर्य को कई नामों से पुकारा जाता है। जैसे–दिन का करने वाला 'दिनकर' है। जो दिन का स्वामी है, उसे 'दिनेश' कहते हैं। जो पोषण करने वाला है, उसे 'पूषा' कहते हैं। जो स्वयं प्रकाशमय है, उसे 'भास्वान्' कहते हैं। जो संसार को या धरती के कण-कण को विकस्वर करता है, मुस्कराहट देता

है, उसे '**प्रभाकर**' और '**भास्कर**' कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य रात्रि के अन्धकार को दूर करता है और सूर्य को किसी अन्य प्रकाश की एवं प्रकाश के साधनों की आवश्यकता नहीं रहती है। दीपक को जलाने के लिए तेल चाहिए, बाती चाहिए और अग्नि का स्पर्श भी चाहिए। दीपक का प्रकाश बाहर के आधार पर चलता है और फिर लाखों, करोड़ों दीपकों में भी वह शक्ति कहाँ है कि वे रात को दिन बना दें, संसार का अन्धकार मिटा दें। आँधी और तूफानों से भी संघर्ष करके जलते रहें। मगर सूर्य में वह शक्ति है, जो सदा प्रकाशमान रहता है। उसे प्रकाश करने के लिए बाती नहीं चाहिए, जलने के लिए तेल नहीं चाहिए, उसे बाहर से कोई भी चीज उधार लेने की जरूरत नहीं है। वह सदा अपनी स्वयं की शक्ति से स्वयं प्रकाशमान होता रहता है। जैसे–सूर्य अन्धकार को दूर करने में समर्थ है। उसी प्रकार गुरु शिष्य के अज्ञानान्धकार को दूर करता है और शिष्य को कहता है–आत्मन् ! तू वास्तविक सूर्य है। तुझमें अनन्त-अनन्त प्रकाश छिपा है, अनन्त शक्तियाँ जगमगा रही हैं, तू आगे बढ़ और इस जीवन की धरती के गर्भ में, जीवन के अन्तराल में छिपा हुआ अन्धकार मिटा। भारतीय दर्शन ने आत्मा को भी सूर्य माना है। वेद वाक्य है–

"सूर्य आत्मा जगतस्तपश्च।"

–सूर्य जगत् का आत्मा है, तप है। संसार के अन्धकार को मिटाने के लिए हर आत्मा को आगे बढ़ना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य कमल के खिलने में सहायक होता है, सूर्य की किरण का प्रथम स्पर्श पाते ही लाखों, करोड़ों कमल खिल पड़ते हैं, कलियाँ मुस्करा उठती हैं, संसार का कण-कण नई अँगड़ाई भरकर जाग उठता है, सर्वत्र सुषमा का अभिनव मोहक रंग निखर उठता है, संसार सूर्य के आलोक मे गुदगुदाकर गतिशील हो जाता है। उसी प्रकार गुरु शिष्य के विकास का कारण होता है। गुरु शिष्य की उन्नति चाहता है। शिष्य के जीवन का निर्माण करना चाहता है। हे शिष्य ! अगर आत्मा का कल्याण चाहता है तो सूर्य के समान निर्माणकारी बनो। शक्ति के पुँज बनो।

गुरु चन्द्र–भारत की प्राचीन संस्कृति में सूर्य की तरह चन्द्रमा का भी बहुत महत्त्व माना गया है। कुछ ग्रन्थों में तो सूर्य से भी अधिक चन्द्रमा के महत्त्व का वर्णन मिलता है। हम प्रतिदिन सायंकाल में क्षितिज पर झिलमिलाते असंख्य नक्षत्रों के बीच जिस एक शीतल, तेज पुँज को चमकता हुआ देखते हैं। गगन-मण्डल में दिव्य ज्योत्सना के साथ जिसे मुस्कराता देखते हैं, उसे चन्द्रमा कहते हैं। चन्द्रमा सौम्यता का प्रतीक है। चन्द्रमा में शीतलता समाई हुई है। चन्द्रमा अपनी निर्मल

ज्योत्सना के द्वारा अन्धकाराच्छन्न सृष्टि के कण-कण को आलोकित कर देता है, लाखों, करोड़ों कुमुदिनियों को खिला देता है, सृष्टि की वनौषधियों में रस उँड़ेल देता है। इसलिए वह औषधिपति कहलाता है। चन्द्रमा प्रकृति के प्रत्येक अंग को बारीकी से देखता है और उसके माध्यम से जन-जीवन को कुछ नई सृजनात्मक प्रेरणा देता है। उसका अध्यात्म पक्ष उभारकर एक नई तस्वीर हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है। उसी प्रकार गुरु अपने शिष्य को संसार ताप से संतप्त हुए को शीतलता प्रदान करता है। शिष्य में सौम्यता प्रदान करता है। जीवन में नई स्फूर्ति भरता है। चन्द्रमा की भाँति अपने जीवन को आदर्शमय एवं शांति प्रदाता बनाओ।

गुरु पति–पति का अर्थ है–पत रखने वाला। पति अपनी पत्नी का हर तरह से ध्यान रखता है। पत्नी की प्रत्येक बात को पूर्ण करता है और दुःख-सुख के समय में साथ देता है। पति दो प्रकार का है–द्रव्यपति और भावपति। जो चर्ममय शरीर से युक्त, स्त्री-पर्याय से युक्त, ऐसे शरीर का जो मालिक है, स्वामी है, वह द्रव्यपति है। जो सर्वशक्ति-सम्पन्न है, अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र बल से युक्त है, जो ईश्वर का रूप है, वह भावपति है। इसलिए पति को परमेश्वर कहा है। एक बाह्य पति है, दूसरा भीतर का पति है। बाह्य पति शरीर की देखभाल करता है, शरीर की रक्षा करता है, अपनी पत्नी के प्रत्येक कार्य में सहायता करता है। भीतर का पति सदैव रक्षा करता है, इस लोक एवं परलोक में साथ देता है। बाहर का पति तो साथ छोड़ सकता है या साथ छोड़ देता है किन्तु भीतर का पति परमेश्वर कभी भी साथ नहीं छोड़ सकता। वह सदैव अंग-संग बना रहता है। रोम-रोम में समाया हुआ है। इसलिए कवि ने भी कहा है–

"मेरा पीऊ मुझमें बसे, जैसे दूध में घीव।
रोम-रोम में रम रह्या, आतम ज्योत सदीव॥"

–जैसे दूध में घी विद्यमान है, ऐसे ही मेरे शरीर में ज्योति-पुँज, पति परमेश्वर विद्यमान है। वास्तव में पति वही है, जो पत्नी की इज्जत को सुरक्षित रखता है। इसी प्रकार गुरु भी अपने शिष्य का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं और गुरु पति की भाँति शिष्य का भरण-पोषण करते हैं। ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय, तप, जप आदि में लगाकर आत्म-ज्योति का दिग्दर्शन करवाते हैं। शिष्य को सर्वगुण-सम्पन्न बनाते हैं।

गुरु इन्द्र–जैन संस्कृति में इन्द्र एक पद है और वह भौतिक शक्तियों का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। भारतीय संस्कृति में इन्द्र शब्द इतना प्रसिद्ध है कि इसका

अर्थ बताने की भी आवश्यकता नहीं लगती। इन्द्र शब्द बोलते ही देवताओं के स्वामी, हाथ में वज्र धारण किये, अद्‌भुत बली एक दिव्य देव की छवि आँखों के सामने आ जाती है। जिस प्रकार इन्द्र देवों का अधिपति होता है, तीर्थंकरों के महोत्सवों में उन्हें साथ ले जाता है, उन पर अनुशासन करता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य को अनुशासित करके योग्य स्थानों में स्थापित करते हैं।

गुरुदेव आनन्द देने वाले हैं। गुरु का पद बहुत बड़ा है। उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उपमा दी गई है। वे ज्ञान प्रदान करते हैं, आत्म-ध्यान की विधि बतलाते हैं। वे गुणों का दान करते हैं, शिष्य को सम्मान, मान के स्थान पर पहुँचाते हैं। जहाँ तक कि उनकी आज्ञा का पालन करने वाला मोक्ष के स्थान पर पहुँच जाता है।

गुरु आज्ञा सर्वोपरि–आज्ञा किसकी माननी चाहिए? जो अवतारी पुरुष है, तीर्थंकर महापुरुष है, आगम व्यवहारी पुरुष या धर्मगुरु है। उनके बताए हुए मार्ग का अनुसरण करना ही आज्ञा कहलाती है। गुरुजनों ने किसी भी कार्य को सम्पन्न करने का आदेश दिया तो चाहे वह शिष्य हो, पुत्र हो, बहू हो, या सेवक हो, बिना किसी प्रकार का राग, द्वेष, अज्ञान और मोह रखे आज्ञा का पालन करे।

गुरु की आज्ञा का पालन ठीक उसी प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार एक सेनापति की आज्ञा का पालन संग्राम में सिपाही करते हैं। सेनापति ने अगर आज्ञा दी–"कूच करो या प्रस्थान करो।" तो फिर सैनिक रुक नहीं सकते, चाहे आगे नदी, नाले, पर्वत या खड्डे कुछ ही क्यों न आएँ। भयंकर सर्दी, गर्मी या घनघोर वर्षा में भी वे आगे बढ़ते चले जाते हैं। जब सेनापति के द्वारा आक्रमण या मुठभेड़ की आज्ञा होती है तो फिर गोली लगेगी या शरीर छलनी हो जाएगा, मरेंगे या बचेंगे। इसकी जरा-सी भी परवाह किये बिना वफादार सिपाही दुश्मनों से जूझ जाते हैं। अपने मालिक सेनापति की आज्ञा का पालन करते हैं। इसी प्रकार शिष्य भी अपने गुरु भगवन्तों की, वीतराग के वचनों की आज्ञा का पालन करें।

● ●

तीसरा फल : सत्त्वानुकम्पा : जीवदया

मानवरूपी वृक्ष के छह फलों की व्याख्या चल रही है। जिसमें आचार्य सोमप्रभसूरि ने तीसरे फल का वर्णन करते हुए कहा है। तीसरा फल 'सत्त्वानुकम्पा' है। सत्त्व + अनुकम्पा, अनुकम्पन–प्राण, भूत, जीव और सत्त्व।

प्राण

प्राण का अर्थ–प्राण एक शक्ति है, जिसके संयोग से प्राणी जीवित रहता है और जिसके वियोग से प्राणी मर जाता है। प्राण-शक्ति से जीवन रहता है और प्राणों का घात होने से मरण होता है। प्राण-शक्ति प्रत्येक जीव में रहती है।

प्राण के भेद–प्राण-शक्ति के दो भेद हैं–द्रव्य प्राण और भाव प्राण। जिसका अतिपात (विघात) हो सके, वह द्रव्य प्राण है। जिसका अतिपात न हो सके, वह भाव प्राण होता है। अब यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है–द्रव्य प्राण कौन-से हैं और भाव प्राण कौन-से हैं? इसका समाधान इस प्रकार है–

द्रव्य प्राण–द्रव्य प्राण दस हैं–पाँच इन्द्रियाँ (श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय), तीन योग (मन, वचन, काय), तथा श्वासोच्छ्वास और आयुष्य। ऐसे ये दस द्रव्य प्राण हैं।

भाव प्राण–भाव प्राण के चार भेद हैं–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य (आत्म-शक्ति)।

भूत

भूत में वनस्पति है। वनस्पति क्या है? जैसे–कंद, मूल, फल, फूल, बीज, हरी और अंकुर, कणक, कपास, नीलण-फूलण आदि वनस्पति हैं। यद्यपि भूत शब्द के अनेक अर्थ हैं–वाणव्यन्तरों की एक विशेष जाति को भूत कहा जाता है। वनस्पतिकाय के लिए भी भूत शब्द का प्रयोग किया जाता है। तथापि इस प्रसंग में भूत शब्द का प्रयोग सभी संसारी जीवों के लिए रूढ़ है। अर्थात् तीनों काल में रहने के कारण भूत है।

जीव

जैनदर्शन में जीव का लक्षण इस प्रकार करते हैं–"जो द्रव्य और भाव प्राणों से जीता है, वह जीव है। जीव उपयोगमय है, कर्त्ता और भोक्ता है, अमूर्त है और स्वदेह परिमाण है। वह संसारस्थ है और सिद्ध भी है। जीव स्वभावतः ही ऊर्ध्वगमन करने वाला है। इस लक्षण में संसारी और मुक्त सभी प्रकार के जीवों का स्वरूप कह दिया गया है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियरूप त्रसकायिक जीव हैं।

सत्त्व

विविध पर्यायों का परिवर्तन होते हुए भी आत्म-द्रव्य की सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता, अतः वह सत्त्व है। पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायुकाय के जीव सत्त्व हैं। प्राण, भूत, जीव और सत्त्व–ये चारों शब्द सामान्यतः जीव के ही वाचक हैं।

अन्य धर्म के अनुसार सत्त्वानुकम्पा में सभी प्राणी आ जाते हैं। सत्त्वानुकम्पा का अर्थ–बिना भेदभाव से दुःखी जीवों के दुःख को दूर करने की इच्छा होना या किसी दीन-दुःखी को देखकर उसका हृदय कंपित होना ही सत्त्वानुकम्पा है।

अनुकम्पा का स्वरूप बतलाते हैं–

"अनुकम्पनम् अनुकम्पाः।"

अर्थात् किसी प्राणी को दुःखी देखकर उसके प्रति दया होना, दुःख को दूर करने के लिए प्रवृत्ति करना अनुकम्पा है। कहा भी है–

"सत्त्वं सर्वत्र चित्तस्य, दयार्द्रत्वं दयावतः।
धर्मस्य परमं मूल-मनुकम्पा प्रवक्ष्यते॥"

अर्थात् महान् पुरुषों का आदेश है कि धर्म का उत्कृष्ट मूल अनुकम्पा ही है। यह मूल धर्मात्मा पुरुष के अन्तःकरण में होता है। अतएव सुख के अभिलाषी जीवों पर दुःख पड़ा देखकर उनके मन में अनुकम्पा उत्पन्न होती है। प्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण कहते हैं–

"जो उ परं कंपंतं दट्ठूण न कंपए कठिण भावो।
एसो उ निरणुकंपो अणु-पच्छा भाव जोएणं॥"

–बृह. भाष्य १३२०

–जो कठोर हृदय दूसरों को दुःख से काँपता हुआ देखकर भी स्वयं नहीं काँपता अर्थात् दुःखी को देखकर जिसका हृदय नहीं पसीजता उस कठिन हृदय को निरनुकंपा–अनुकंपारहित कहा गया है। अनुकंपा का अर्थ है–काँपते हुए को देखकर काँपना।

अब यहाँ पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनुकम्पा कैसी हो? कहा भी है–

"हियअ-छद्दवणभूआ सम्मत्त-हेउ लक्खणं।
अनुकम्पा हवे देस-काल-पत्त-निबंधणी॥"

अर्थात् अनुकम्पा हृदय-द्रवण स्वरूप वाली होती है। वह मर्यादित देश, काल और पात्र वाली होती है। अनुकम्पा सम्यक्त्व (की उत्पत्ति) का हेतु और लक्षण है।

किसी की पीड़ा से हृदय द्रवीभूत होना ही अनुकम्पा का भाव है। किसी की पीड़ा से आत्म-पीड़ा होने पर उनके दुःखों को दूर करने की प्रवृत्ति होती है और अपने द्वारा उनकी भावी पीड़ा की आशंका से अपने आप पर नियन्त्रण जाग्रत होता है, जिससे प्रवृत्ति का संकोच होता है। जिस देश में अनुकम्पा होती है, उसी क्षेत्र के जीवों पर अनुकम्पा होती है। जीवों के दुःख के और कषाय से तीव्र क्लेश पाने के क्षणों में ही दुःखी जीवों पर ही अनुकम्पा हो सकती है। अनुकम्पा के भाव मिथ्यावादी जीवों में भी हो सकते हैं। मिथ्यात्वी की अहिंसा भी अनुकम्पा रूप होती है। अनुकम्पा अन्य की पीड़ाहारिणी और सुखदायिनी होने के कारण सातावेदनीय की बंधक होती है। अनुकम्पा सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारणरूप बन जाती है, अतः वह आगे चलकर उसका लक्षण = पहचान का आभ्यन्तर चिह्न बन जाती है। दुःखी जीव को देखकर उस पर कदापि अनुकम्पा उत्पन्न न होना अभव्य का लक्षण है। जैसे अंगार मर्दनाचार्य के समान।

उदाहरण–पाटलिपुर नगर के राजा ने पक्खी के पौषध में रात्रि समय में एक स्वप्न देखा कि ५०० हस्तियों के आगे भण्डसूअर आ रहा है। प्रातःकाल उठा और सुना ५०० साधुओं के समूह सहित अंगार मर्दनाचार्य नगरी में आये हैं। उनकी परीक्षा के लिए राजा ने जिस जगह वे ठहरे हुए थे, उसके आसपास रात्रि समय में कोयले बिछवा दिये। उन्हें देख-देखकर जीवों की शंका होने के कारण साधु तो वापस लौट गये और आचार्य अंगार मर्दन उन कोयलों को खूँदते हुए चले गये। राजा समझ गया कि यही भण्डसूअर के समान अनुकम्पारहित अभव्य

जीव मालूम होता है। प्रातःकाल सब साधुओं को समझाकर उसे आचार्यपद से हटाया और योग्य साधु को आचार्य बनाया। इस प्रकार अभव्य जीव के हृदय में अनुकम्पा नहीं होती है।

सम्यग्दृष्टि की अनुकम्पा

सम्यग्दृष्टि पुरुष तो कसाई आदि दुष्ट प्राणियों पर भी अनुकम्पा रखते हैं और उन्हें पापकर्मों से छुड़ाने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं। अगर वह पापकर्म का त्याग कर दे तो ठीक, यदि न त्याग करे तो उसकी कर्म गति प्रबल जानकर उस पर भी द्वेष नहीं करते हैं। जिस प्रकार गृहस्थ अपने कुटुम्ब को दुःख से बचाने के लिए उपचार करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि–

"मित्ती मे सव्व भूएसु।"

अर्थात् सब प्राणियों पर मेरा मैत्रीभाव है, ऐसा मानता हुआ और "वसुधैव कुटुम्बकम्।" अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों को अपना कुटुम्व जानता हुआ, उनके हित सुख की योजना करता है। दान से भी दया–अनुकम्पा अधिक कही गई है, क्योंकि धन समाप्त हो जाने पर दान देना बंद हो जाता है, किन्तु अनुकम्पा का झरना सम्यग्दृष्टि के हृदय में निरन्तर झरता रहता है। यह अनुकम्पा ही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है एवं अनुकम्पा है।

'दशवैकालिकसूत्र के चतुर्थ अध्याय' में विवेक को ही अनुकम्पा कहा गया है। यथावसर की हुई अनुकम्पा ही सार्थक होती है। खेती सूखने के बाद वर्षा बेकार है। इसीलिए सर्व तीर्थंकर वर्षीदान देकर ही दीक्षित होते हैं। कुछ लोग दया दान का निषेध करते हैं। उनका कहना ये है कि अव्रती, अप्रत्याख्यानी को दान देने से अथवा उनकी रक्षा करने से कर्मों का बन्ध होता है। परन्तु ऐसा नहीं है।

उदाहरण–भगवान महावीर ने स्वयं वैश्यायन बाल तपस्वी द्वारा गौशालक पर तेजोलेश्या छोड़े जाने पर अपनी शीतलेश्या द्वारा उसकी रक्षा की। अनुकम्पा, दया, दान जैनधर्म के मूल स्तम्भ हैं, धर्म के बीजभूत हैं–

"मूलं नास्ति कुतो शाखाः।"

–यदि जड़ ही नहीं तो शाखा कहाँ से होगी? अतः अनुकम्पा जैनधर्म की आधारशिला है।

अनुकम्पा के दो रूप

द्रव्यानुकम्पा और भावानुकम्पा। यथाशक्ति दूसरों का दुःख दूर करना ही द्रव्य अनुकम्पा है। करुणा, दया के भाव रखना ही भाव अनुकम्पा है।

दया का स्वरूप बतलाते हुए कहा है–दया वह भाषा है, जिसे बहरे सुन सकते हैं और गूँगे समझ सकते हैं। 'जैन-सिद्धान्त दीपिका ६/२' में कहा है–

"पापाचरणादात्मरक्षा दयाः।"

–पापमय आचरणों से अपनी या दूसरों की आत्मा को बचाना ही दया है–

"लोके प्राणरक्षापि।"

–लोक-व्यवहार में प्राण-रक्षा को भी दया कहते हैं। दया का क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत रूप धारण किये हुए है। दया, (जीवों की) रक्षा, अहिंसा, अनुकम्पा इस प्रकार बहुत प्रकार की होती है। स्थूल जीवों की रक्षा दया का एक रूप है। व्रत स्वरूपा अहिंसा दया का दूसरा रूप है और सम्यग्दृष्टि आत्मा के हृदय में किसी की कर्मजनित बाधा को दूर करने के भाव उत्पन्न होने रूप और उनके द्वारा तथारूप प्रवृत्ति के यथाशक्य आचरण रूप अनुकम्पा दया का तीसरा रूप है।

दया से धर्म की उत्पत्ति होती है, अतः वह धर्म की माता है, उससे धर्म पुष्ट और वृद्धिंगत होता है, अतः वह धर्म वृद्धिकरा दया का चौथा रूप है। 'आचारांगसूत्र' में भगवान महावीर ने कहा–

"सव्वे पाणा पिआउआ सुहसाया दुक्खपडिकूला।"

–सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है। सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख बुरा।

पैगम्बर मुहम्मद ने भी दया को ईश्वर में विश्वास और श्रद्धा का केन्द्र-बिन्दु माना है–

"Kindness is a mark of faith and whoever
has not kindness has not faith."

–जिसमें दया है, उसमें ईमान है और जिसमें दया नहीं है, उसमें ईमान नहीं है।

अंग्रेजी में एक कहावत है–

"To pity distress is but human to relieve it godlike."

–दुःखी के प्रति दया दिखाना मानवीय गुण है, किन्तु दुःखी के दुःख को मिटाना ईश्वरीय गुण है।

अनुकम्पा सर्वव्यापक

संसार के सभी धर्म प्राणीमात्र पर दया करने का उपदेश देते हैं। कोई भी ऐसा धर्म नहीं जिसमें दया के विपरीत क्रूरता की प्रेरणा दी गई हो। यह पशुबलि, नरबलि आदि जो हिन्दूधर्म में प्रचलित हैं, वे स्वार्थी और स्वादलोलुप व्यक्तियों का प्रचार मात्र हैं, धर्म का यथार्थ तत्त्व नहीं। देवी-देवता पर बलि चढ़ाने की तो बात ही क्या, वृक्षों के फल-फूल और पत्ते भी नहीं तोड़ने चाहिए क्योंकि इससे उन्हें कष्ट होता है।

हिन्दू लोग अपने भगवान की मूर्ति पर चढ़ाने के लिए तुलसी के पत्ते तोड़ते हैं। एक दिन एक पुजारी तुलसी-दल तोड़ रहा था। पत्ते टूटने से टहनी काँपती ही है। पुजारी बोला–"अरी क्यों धुजावे ? तेरे पत्ते हरी को चढ़े।" अर्थात् यह सुनकर टहनी आवेश में आ गई। उसी समय एक सर्प निकल आया। वह पास खड़े पुजारी के छोटे-से पुत्र के पास जा पहुँचा। पुत्र को मृत्यु के सन्निकट देख पुजारी थरथर काँपने लगा। तभी सर्प मानव-वाणी में बोल उठा–"अरे, पुजारी अब क्यों काँपे ? तेरा पुत्र हरि को चढ़े।" तब सर्प ने समझाया–"भविष्य में कभी भी तुलसी के पत्ते मत तोड़ना। जिस तरह तुमको दुःख होता है, उसी तरह तुलसी का वृक्ष भी पत्ते तोड़ने से कष्ट पाता है।" "मुझे ऐसी पूजा नहीं करनी।" पुजारी ने घबड़ाते हुए कहा। पुजारी समझ गया और उसने आगे फिर कभी किसी वृक्ष के फल-फूल-पत्ते आदि न तोड़ने का निश्चय किया।

किसी भी धर्म में ऐसी कुप्रथाएँ सम्मत नहीं हैं। मुसलमान भाई बकरीद का त्यौहार बकरों की कुर्बानी से मनाते हैं। लेकिन खुदा किसी भी जीव की बलि पसन्द नहीं करता। खुदा रहीम (रहम करने वाला) है। खुदा का ऐसा कोई नाम नहीं जिसमें क्रूरता या हिंसा का लेश भी हो वरन् वह तो जीवदया से खुश होता है।

एक बार सुबुक्तगीन शिकार खेलने जंगल में गया। वहाँ उसे एक हिरनी दिखाई दे गई। उसने धनुष पर बाण चढ़ा लिया। लेकिन हिरनी भागी नहीं, वह उसी की ओर टुकर-टुकर देख रही थी।

उसकी आँखों में आँसू छलछला आये थे, मानो कह रही हो–"हम निरीह भोलेभाले जीवों को क्यों मारते हो? हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? जंगल में

तिनके खाकर पेट भरते हैं, किसी को भी नहीं सताते, फिर हमारे प्राण क्यों लेते हो?" सुबुक्तगीन को दया आ गई। हृदय में अनुकम्पा जाग उठी। उसने बाण धनुष पर से उतार लिया और चला आया।

रात्रि के समय में, जब वह सो रहा था, उसके कमरे में एक फरिश्ता (देवदूत) प्रगट हुआ और बोला-"सुबुक्तगीन ! आज तुमने एक हिरनी की रक्षा की इससे खुदा तुम पर अतिप्रसन्न हुआ है। इस नेकी के बदले तुम जल्दी ही बादशाह बनोगे। अचानक ही उसके देश के बादशाह का दुःखद देहावसान हो गया। सुबुक्तगीन को उस देश का बादशाह बना दिया गया।

जब खुदा रहीम है और रहम करने वालों से खुश होता है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि वह बकरों की कुर्बानी से और माँसभक्षण से खुश होता होगा। बाइबिल में तो स्पष्ट ही लिखा है-

"Thou shalt not kill."

-तू किसी को भी मत मार। ईसामसीह का तो यहाँ तक उपदेश है कि कोई तुम्हारे दायें गाल पर चाँटा मारे तो उसकी ओर बायाँ गाल भी कर दो, कभी भी बदला लेने की भावना न रखो। अतः संसार के सभी धर्मों में दया का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दया की महिमा

"परदुःखविनाशिनी करुणा।" *-धर्मबिन्दु*

-दया दूसरों के दुःखों का निवारण करने वाली है-

"कोडिकल्लाणजणणी, दुक्ख-दुरियारिवग्गनिट्ठवणी।
संसार-जलहरतरणी, एकाचिय होइ जीवदया॥"

-एक ही यह जीवदया करोड़ कल्याण करने वाली है। दुःख, दुरित (पाप) एवं अरि (शत्रु) वर्ग को नष्ट करने वाली है तथा संसार-समुद्र को पार करने के लिए नौका है।

"दयादुर्गतिनाशिनी।"

-दया दुर्गति का नाश करने वाली है। दया पालने वाले को नरक तिर्यंच गति में नहीं जाना पड़ता। दया प्राणीमात्र पर अनुकम्पाभाव है। इसके सम्बन्ध में भगवान महावीर ने कहा है-

"धम्मस्स जणणी दया।"

–दया धर्म की माता है। अन्य धर्म दया की कोख से ही पैदा होते हैं।

"दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण॥"

–दया धर्म का मूल है। जिसके दया नहीं, उसका धर्म नहीं। सज्जनता और दयालुता ईमान की दो शाखाएँ हैं। जहाँ पाप होता है, वहाँ अहंकार आ जाता है। इसीलिए सन्त तुलसीदास ने कहा है–जब तक शरीर में चैतन्य सत्ता है, तब तक जीवदया का पालन करना चाहिए। जीव-रक्षा की थी सोलहवें तीर्थंकर भगवान शांतिनाथ के जीव ने पूर्व-भव में मेघरथ राजा के रूप में। वह कथानक इस प्रकार है–

उदाहरण–इसी जम्बू द्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र में पुष्प कलावती विजय नामक एक प्रान्त-विशेष है। जिसमें सर्व सुविधा-सम्पन्न पुण्डरीक नामक एक महानगर था। धनरथ नाम का महावली राजा वहाँ पर राज्य करता था। इसके दो रानियाँ थीं–एक का नाम था प्रीतिमती और दूसरी का नाम था मनोरमा।

एक समय की बात है कि ग्रैवेयक नाम वाले देवलोक से चवकर वज्रायुध का जीव प्रीतिमती की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उस समय में रानी ने अमृत सम जलवृष्टि करते हुए एक मनोज्ञ एवं सुन्दर मेघ को स्वप्न में देखा। महारानी ने इस शुभ घटना का वर्णन राजा को कह सुनाया। सुनकर राजा ने कहा–"तुम एक महान् प्रतापी और पुण्यवान् पुत्र की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त करोगी।"

दूसरी रानी मनोरमा ने भी स्वप्न में एक सुन्दर दृश्य देखा, इस स्थिति का वर्णन भी इस द्वितीय महारानी ने अपने पतिदेव महाराजा की सेवा में प्रस्तुत किया। राजा ने प्रसन्न होकर यही कहा कि "तुम्हारी मंगलमय कोख से भी एक पुत्ररत्न जन्म धारण करेगा, जोकि बलवान् और यशस्वी होगा।"

द्वितीय महारानी की कुक्षि में उत्पन्न होने वाला सहस्रायुध का जीव भी ग्रैवेयक नाम के देवलोक से ही चवकर आया था।

नव मास और साढ़े आठ रात्रि का गर्भकाल पूर्ण होने पर प्रीतिमती महारानी ने सूर्यसम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम मेघरथ रखा गया और मनोरमा महारानी ने भी एक सौम्य और सुशील बालक को जन्म दिया, जिसका

नाम वज्ररथ रखा गया। दोनों बालक शनैः-शनैः वृद्धिंगत होते हुए युवावस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने अपने दोनों सुपुत्रों का सुयोग्य एवं आयु वाली राज-कन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न किया, यों दोनों राजकुमारों का युवाकाल आनन्दपूर्वक सुख-भोग भोगते हुए व्यतीत होने लगा।

कुछ समय के बाद लोकान्तिक देव इस पुण्डरीक नगरी में उपस्थित हुए और राजा को सविनय निवेदन किया कि अब आप दीक्षा धारण करें। राजा धनरथ को संसार की अस्थिरता एवं अनित्यता का ध्यान आया। तदनुसार अपने दोनों पुत्रों को राज्य का स्वामी बनाकर जैन साधुत्व धारण कर लिया।

इधर मेघरथ राजा न्याय-नीतिपूर्वक राज्य-शासन करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे।

एक दिन की बात है कि जिस समय में मेघरथ राजा राजदरबार में सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय में एक डरता हुआ और काँपता हुआ कबूतर उनकी गोद में आ गिरा। इससे राजा आश्चर्यचकित हो गया।

वह कबूतर असामान्य बुद्धिधारी होने से मनुष्य-बोली में बोला–"हे दयालु ! प्रतापी राजन् ! मैं शरणागत हूँ। आप मेरी रक्षा करें।" इतना उस कबूतर का कहना था कि तत्काल एक बाज वहाँ आ धमका। उसने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा–"हे धर्मपालक नृपति ! यह मेरा भक्ष्य है, इसलिए इसको तुम लौटा दो।" इस पर राजा ने कहा–"हे बाज ! मैं न्याय-नीति का आराधक राजा हूँ, इसलिए शरणागत की रक्षा करना मेरा परम धर्म और सर्वोत्तम कर्त्तव्य है, अतः मैं इसको नहीं लौटा सकता हूँ किन्तु इसकी रक्षा के लिए मैं अपने शरीर का सम्पूर्ण माँस तक देने को तैयार हूँ।"

"हे बाज ! खाने के लिए अन्य अनेक प्रकार के स्वादिष्ट और पौष्टिक पदार्थ विद्यमान हैं, इसलिए तू माँस खाना छोड़ दे।" राजा के उत्तर से उस निर्दयी बाज ने यही कहा–"या तो इस पक्षी को लौटा दो या अपने शरीर का माँस काटकर इसके बराबर तुला में तोलकर दे दो।" राजा धर्मात्मा और पुण्यात्मा था, उसने अपने शरणागत की रक्षा हेतु तत्काल ही अपना माँस देना स्वीकार कर लिया। तुला मँगाई गई। तुला के एक पलड़े में तो कबूतर पक्षी को बिठाया गया। दूसरे पलड़े में राजा स्वयं अपने शरीर का माँस अपने ही हाथ से काट-काटकर रखने लगा। परन्तु ज्यों-ज्यों माँस को काटकर रखता जाता था, त्यों-त्यों उतना ही उतना

पक्षी भारी होता जाता था और तुला के दोनों पलड़े बराबर नहीं होते थे। राजा को आश्चर्य के साथ परम दुःख हुआ कि धिक्कार है मेरे शरीर को जोकि एक पक्षी की तुलना में भी इतना हल्का है और बराबर रूप से नहीं तोला जा सका है।

यों राजा आश्चर्य मन हो रहा था। इधर कबूतर और बाज दोनों ही राजा के मन की स्थिति का अध्ययन कर रहे थे तथा राजा के मन की चिन्ता को समझ गये थे। राजा की इस दयालुता पर धर्मात्मापन पर अतिप्रसन्न हुए।

वास्तव में दोनों जीव मिथ्यात्वी देव थे और राजा की परीक्षा हेतु आये थे बाज एवं कबूतर का रूप बनाकर। दोनों हार गये। राजा मेघरथ की इस दयालुता पर परम आनन्दित होते हुए राजा से विनयपूर्वक बोले–"हे धर्ममूर्ति राजन् ! हमें आप क्षमा करें। हम तो आपकी परीक्षा हेतु उपस्थित हुए थे। हमें आपके धर्म-पालन, दयाभाव और कर्त्तव्यनिष्ठा से परम प्रसन्नता है। आपको हमने मारणान्तिक कष्ट दिया, इसके लिए हृदय से क्षमा करें। हमने तो केवल सौधर्म देवलोक के इन्द्र के वचनों की सत्यता की जाँच के लिए ही यह कृत्रिम नाटक रचा था।" इतना निवेदन करके पुनः अपनी देव-शक्ति से राजा को पूर्ववत् नीरोग, स्वस्थ और परिपूर्ण शरीर वाला बनाकर अपने स्थान को चले गए। धन्य है मेघरथ जी, मेघरथ राजा की जय हो। यह है दया का पालन करने से जीवन में दृढ़ता। वास्तव में दया-पालन से अपना नाम अमर कर गये। आज भी मेघरथ राजा के गुण-गौरव की गाथा गाई जाती है।

दया के आठ भेद

जैनाचार्यों ने दया के आठ रूप बताये हैं, यथा–द्रव्यदया, भावदया, व्यवहारदया, निश्चयदया, स्वदया, परदया, स्वरूपदया और अनुबन्धदया इस प्रकार आठ प्रकार की दया कही है। क्रमशः आठों का स्वरूप इस प्रकार है–

(१) **द्रव्यदया**–तत्त्वज्ञान से रहित, जीवादि तत्त्वों को समझ और मोक्षरूप साध्य के साधन के विवेक से शून्य, तत्त्व श्रद्धा से रहित, सही समझ के अनुसार श्रद्धा अथवा जीव रक्षा, अनुकम्पा और व्रत की क्रमशः सम्यक्त्व के हेतु लक्षण और मोक्षमार्ग के रूप श्रद्धा से रहित, लोकाधीन, लोगों को अच्छा लगाने के लिए की जाने वाली, देखादेखी की जाने वाली, शून्य चित्त की जाने वाली द्रव्यदया है।

(२) **भावदया**–जीव स्वरूप को जानकर उल्लासयुक्त चित्त से दया के भाव से जो दया की जाती है, वह भावदया है। दया स्व-पर के लिए उपकारिणी है।

(३) **व्यवहारदया**–जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित जो दयाभाव है, उसको जानकर शुद्धकरण और योगों से करता है, वह व्यवहारदया है। व्यवहारदया भावदया का ही एक भेद है। व्यवहारदया मोक्ष का क्रियात्मक साधन होने के कारण साधक की क्रिया के रूप में वर्णित है।

(४) **निश्चयदया**–पुद्‌गल (परद्रव्य) की वांछा से रहित अपने आप के (शुद्ध परिणामों के) द्वारा अपने आप में (कषाय से रहित शुद्ध भाव–स्व-संवेदन में) संस्थित आत्मा ही श्रेष्ट निश्चयदया कही गई है। अर्थात् निश्चयनय से आत्म-गुणों की घात ही हिंसा है। पुद्‌गल की परद्रव्यों की चाह से, पर के आलम्बन से और परभाव में रमण से आत्म-गुणों की घात होती है, अतः पर-पदार्थ की चाह वाला परावलम्वी पर में रयमाण आत्मा ही हिंसास्वरूप वन जाता है। परद्रव्य की चाह आदि से रहित स्वावलम्बी स्वप्रतिष्ट आत्मा ही अहिंसास्वरूप वन जाता है। निश्चयदया भी भावदया है और यही उत्कृष्टदया है।

(५) स्वदया–दुःखों से भरे भयंकर संसार में मैं कर्म से मर्दित हूँ। इस कारण अब मैं कर्म नहीं करूँ, इस परिणाम को ज्ञानीजन स्वदया कहते हैं। अर्थात् जीव संसार में दुःखी है और कषायों के कारण, दुःख का मूल कारण संसार में कर्म है। अतः संसार दुःखाकीर्ण है। कर्म कर्त्ता की पूँजी है और जीव ही कर्म के कर्त्ता हैं। मैं भी संसार में दुःख पा रहा हूँ तो इसके कारण मेरे कर्म ही हैं। मैं अनादिकाल से कर्मबन्ध करता रहा हूँ, कभी कर्मबन्ध नहीं रुका। कर्म करूँगा तो दुःख रहेगा ही। हा ! मैं कब तक कर्मबन्ध करता रहूँगा। अब मैं कर्मबन्ध नहीं करूँ, मैं अब अपने को पीड़ित नहीं करूँ, कर्मबन्ध के कारणों को छोड़ूँ, यही स्वदया कही गई है।

(६) परदया–जो कृपालु जीवों को दुःखों से, प्राणों के नाश और पापों से बचाये, उस (रक्षक के रक्षण–परिणाम) को परदया कहा गया है। हेय, उपादेय और ज्ञेय परदया के तीनों ही अंशों को जानने का कथन किया है। स्वदया की विरोधी परदया हेय है, जैसे–नरक के हेतु रूप महारम्भ पंचेन्द्रिय जीवों का वध आदि करके, अज्ञान से युक्त दया, ऐसी दया के स्वरूप को सूक्ष्म बुद्धि से ज्ञपरिज्ञा से समझकर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करना। जो दया स्वदया की अंशतः विरोधी है और पोषक नहीं है, परन्तु गृहस्थ को करना आवश्यक है, जैसे–प्यासे को सचित्त जल पिलाना और भूखे को सचित्त पदार्थ खिलाना। ऐसी दया साधु के लिए ज्ञेय है, वहाँ साधु को मध्यस्थ रहना, निषेध नहीं करना। जो दया न तो

स्वदया की विरोधी है, न उसकी पोषक ही है, मात्र पुण्यबन्ध रूप है, परन्तु आगे चलकर सम्यक्त्व-प्राप्ति में हेतु बन सकती है, जैसे–हाथी के भव में मेघकुमार के जीव के द्वारा कृत दया। कैसे? संक्षिप्त शब्दों में–

मेघकुमार कथानक–मगध देश, राजगृही नगरी, श्रेणिक राजा, धारिणी महारानी, जिसके पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। जिसका नाम मेघकुमार रखा गया। पढ़-लिखकर एवं सर्वकलाओं में निपुण हो गया। उधर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर अपनी शिष्य-समुदाय के साथ राजगृही नगरी के बाहर गुणशील चैत्य में विराजमान हो गए। जन-समूह दर्शन एवं प्रवचनों के उमड़ा इधर राजा श्रेणिक (जो भगवान महावीर का परम उपासक था), महारानी धारिणी, राजकुमार मेघ भी भगवान के दर्शनों एवं उपदेश के लिए समवसरण में पहुँचे। वन्दन नमस्कार किया, बैठ गए। भगवान ने दिव्य वाणी का उद्घोष किया। वाणी सुनी। लोगों ने यथाशक्ति नियम पच्चक्खान किये और चले गए।

मेघकुमार उठा, भगवान से कहा–भंते ! आपकी वाणी सुनी है, मुझे संसार से विरक्ति हो गई है। आप मुझे अपने पावन पुनीत चरणों में स्थान दो, यानि मैं भी दीक्षित होना चाहता हूँ। भगवान ने एक ही बात कही–

"अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मां पडिबंधं करेह।"

–हे देवताओं के प्यारे ! जैसा सुख हो, वैसा करो, परन्तु धर्मकार्य में ढील मत करो, क्योंकि श्वास का भरोसा नहीं है फिर आएगा या नहीं। भगवान की वाणी सुनी। माँ-बाप से कहा–"हे माता-पिता ! मैं साधु बनना चाहता हूँ।" माता-पिता ने बहुत समझाया पर नहीं माना। अन्त में भगवान के चरणों में मेघकुमार राजकुमार की दीक्षा हो गई। दीक्षा के बाद पहली रात्रि, संतों में छोटा संत मेघ मुनि रात्रि के समय आसन पडिलेहणा, अन्त में दरवाजे के पास आसन लग गया। भगवान के चरणों में संत लोग कोई पृच्छा के लिए, कोई लघु शंका, कोई ध्यान समाधि के लिए आ-जा रहे हैं, आते-जाते किसी का पाँव लग रहा है, किसी का रजोहरण लग रहा है। मुँह से खमाऊँ-खमाऊँ मेघ मुनि, सारी रात नींद नहीं आई। मेघ मुनि परेशान हो गया, दुःखी मन से सोचने लगा–'जब तक मैं साधु नहीं बना था तब तक सभी चाहते थे। पर मैंने वो माता-पिता का प्यार, राजसी सुख छोड़कर साधु बना, पर यहाँ भी सुख नहीं। इससे तो मैं प्रातःकाल होते ही भगवान को बताकर अपने घर चला जाऊँगा।'

प्रातःकाल भगवान के चरणों में पहुँचा मन के भाव बताने के लिए। भगवान ने पहले ही कहा–"हे मेघ मुनि ! रात्रि के समय में मुनि वृत्ति को छोड़कर जाना चाहते हो, ऐसे विचार आये।" "हाँ भंते ! आये।" भगवान ने कहा–"हे मेघ मुनि ! तुम जरा से परीषह से घबरा गए। पर आप अपने पूर्व-भव को याद करो। क्या थे ? क्या किया था ?"

मेघ मुनि का पूर्व-भव–मेघ मुनि को सोचते-सोचते जातिस्मरण हो गया। क्या देखते हैं। पूर्व-भव में मैं पाँच हथिनियों का मालिक, यूथपति; जंगल में आग लग गई। सभी प्राणी मौत से भयभीत हैं। मैंने देखा–झाड़-फूस साफ करके एक मैदान तैयार किया। जब फिर अग्नि लगेगी तब हम सब यहीं पर आकर विश्राम करेंगे।

अचानक फिर उस जंगल में आग लग गई। सभी प्राणी वहाँ पर पहुँच गए, जहाँ मैदान तैयार कर रखा है। सब-के-सब वहाँ इकट्ठे हो गए। इतने में खरगोश कहीं से फुदकता हुआ आ गया। मेरे शरीर में खुजली हुई। मैंने अगला पाँव उठाया खुजाने के लिए। जहाँ से पाँव उठाया, वहाँ पर खरगोश आकर बैठ गया। मैंने फिर पाँव रखना चाहा, किन्तु खरगोश को देखा, विचार आया–'अगर मैंने पाँव रख दिया, यह बिचारा मर जाएगा, इसके लिए तो यहीं आग लग जाएगी।' नहीं, मैंने पाँव नहीं रखा, तीन दिन, तीन रात्रि हो गईं, अग्नि शांत हुई, सब प्राणी चले गए, मैंने ज्यों ही अपना पाँव नीचे रखना चाहा, त्यों ही धड़ाम-से मेरा शरीर गिरा, आयुष्य कर्म पूरा हुआ और मैं वहाँ से चलकर दया, करुणा के प्रताप से यहाँ पर राजा के घर में मेघकुमार के रूप में पैदा हुआ। इतना कष्ट उठाया, उस समय घबराया नहीं, परन्तु अब थोड़े से दुःख से घबरा गया। जीवन का परिवर्तन किया। करणी की, अपनी आत्मा का कल्याण किया। यह थी मेघकुमार की करुणा, दया।

ऐसी दया अनुमोदना के योग्य है, कथंचित् उपादेय है, जो परदया, स्वदया की अविरोधी है, पोषक है, जिसमें किसी की हिंसा अंशमात्र नहीं है, परन्तु रक्षारूप है। जैसे–व्रत की मर्यादा में रहते हुए साधु-श्रावकों के द्वारा की जाने वाली रक्षा परदया है।

(७) **स्वरूपदया**–जो हृदय में मारने के भाव रखकर और बाहर से करुणा को धारण करके, (ईद के) बकरे के समान पालन करता है, वह स्वरूपदया है। जैसे ईद का बकरा बेटे के समान बड़े लाड़-प्यार से पाला जाता है। जैसे मुर्गीपालन,

मत्स्यपालन आदि भी इसी दया में गर्भित है। यह दया अत्यन्त हेय है, स्वरूपदया, द्रव्यदया है।

(८) **अनुबन्धदया**–जो मन में कृपाभाव धारण करके माता, गुरु आदि की कृपा के समान रोगादि कारणों से पीड़ा देता है, वह अनुबन्धदया है। अर्थात् माता रोते हुए बच्चे को जबर्दस्ती दवा या दूध पिलाती है और शिक्षक छात्र को अभ्यास नहीं करने के कारण दण्ड देता है, परन्तु इसमें उनकी निर्दयता नहीं है, क्योंकि हृदय में उनके हित के भाव हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव अनुकम्पा से सम्यक्त्व का पोषण करता है, उत्कृष्ट पुण्य का संचय करता है और अगले जन्म में सुलभबोधि बनकर व्रत ग्रहण की भूमिका का निर्माण करता है। करुणामय हृदय वाले धर्मरुचि अणगार को है कि जिन्होंने कीड़ियों की रक्षा के लिए विष तुम्बे का साग खाकर अपने जीवन का बलिदान दिया।

धर्मरुचि अणगार–बहुत पुराने युग की बात है। चम्पानगरी में सोमदेव, सोमभूति और सोमदत्त नाम के तीन ब्राह्मण बन्धु रहते थे। उनकी पत्नियाँ थीं यथाक्रम–नागश्री, यज्ञश्री और भूतश्री। घर की व्यवस्था के लिए तीनों के कामकाज की बारी बाँध रखी थी। अपनी-अपनी बारी के दिन घर का भोजन, सफाई आदि सब काम वे अपने आप निपटा लेती थीं।

एक दिन भोजन बनाने की बारी नागश्री की थी। उसने तुम्बी (लौकी) का साग तेज मसालों और बढ़िया छौंक से बहुत ही स्वादिष्ट बनाने का उपक्रम किया। आज सबेरे से ही अपनी भोजनकला की दक्षता का अहंकार लिए नागश्री पाकशाला में नाच रही थी। किन्तु नागश्री ने साग का अन्तिम परिपाक देखने के लिए ज्यों ही एक टुकड़ा चखा, तो तुम्बी की कड़ुआहट से समूचा मुख, मानो जहर से भर गया। मधुर तुम्बी की जगह कड़वी तुम्बी आ गई थी, भूल से। नागश्री ने चुपचाप उसे एक ओर रखा और झटपट दूसरा साग बनाकर सब लोगों को यथासमय भोजन करवा दिया। नागश्री के अब जी में जी आया कि चलो खैर इज्जत बच गई। अन्यथा पता चल जाता तो देवरानियाँ कितना मजाक उड़ातीं और परिवार में मेरी कितनी अवहेलना होती।"

अब नागश्री को एक ही चिन्ता थी कि छिपाकर रखे साग को कब और कहाँ डाले, ताकि किसी को इधर-उधर पता न लगे।

चम्पानगरी में धर्मघोष नाम के आचार्य आये हुए थे। उनके शिष्य धर्मरुचि अणगार, एक मास की तपस्या का पारणा लेने के लिए भिक्षाटन करते हुए नागश्री के गृह द्वार पर आ गए। नागश्री ने मुनि को आते देखा तो सोचा–'चलो अच्छा हुआ। कुरडी अपने आप घर पर आ गई। वह कड़वे तुम्बे का साग इस मुनि को ही क्यों न दे दूँ? बाहर फेंकने को नहीं जाना पड़ेगा।'

मुनि ने आहार की शुद्ध एषणा करके ज्यों ही पात्र आगे किया कि नागश्री ने एक ही झटके से तुम्बी का सब-का-सब साग बहुत-बहुत और मना करते हुए भी मुनि के पात्र में उँड़ेल दिया। मुनि धर्मरुचि आगे नहीं गये। क्षुधा-पूर्ति के लिए उन्हें साग ही पर्याप्त लगा। परन्तु खाली साग ही लेकर गुरु के पास लौट आये।

गुरुदेव ने उस साग को देखा तो बोले–"वत्स ! यह तो कालकूट विष है, इसे किसी प्रासुक (जीव-जन्तुरहित) स्थान पर परठ आओ। इसे खाना तो विष-भक्षण करना है। मुनि जी गए। गवेषणा की। एक शिला पर साग की एक-दो बूँदें डालीं। साग की सुगन्ध से वहाँ हजारों चींटियाँ खिंची चली आईं। साग को चखते ही उनका प्राणान्त हो गया। धर्मरुचि अणगार के हृदय में करुणा का सागर लहराने लगा, उन्हें दया आई। उन्होंने समस्त साग को उदरस्थ कर लिया।

जहर किसी का बन्धु नहीं। साग के तीक्ष्ण जहर का असर मुनि के शरीर पर होने लगा, नख नीले पड़ गए, चेहरा विवर्ण हो गया, पेट में भयंकर दाह लग गई, समूचा शरीर उसके तीव्र प्रभाव से आक्रांत हो गया, परन्तु मुनि का मन परम प्रसन्न था। वहाँ करुणा का अमृत छलछला रहा था। दया की रसधारा बह रही थी। कड़वा तुम्बा खाकर भी मन मधुरता से भरा था। जहर देने वाली के प्रति भी उनके मन में करुणा का अमृत छलक रहा था। यही तो उनकी साधुता थी–कटुता के बदले में मधुरता।

मुनि ने शांतभाव से यथाविधि अनशन किया, आत्म-आलोचना की, जीवन की अन्तिम समाधि के हेतु कषायभाव का उपशमन कर संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री और करुणा की भावना भाते हुए शीघ्र ही देह छोड़कर ऊर्ध्वलोक चल दिये। सर्वार्थसिद्धि नामक महाविमान में एकभवी अनुत्तरवासी देव हो गए। सर्वार्थसिद्ध में तीन शब्द हैं–सर्व + अर्थ + सिद्ध। उनके सभी अर्थ अर्थात् प्रयोजन सिद्ध हो गए। तो कैसे हुए उनके सभी प्रयोजन सिद्ध? दया पाली तभी न? दया से ही आत्मा की सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं, उसे लौकिक और पारलौकिक सुख मिलता है। ● ●

चौथा फल : सुपात्रदान

मानव-जीवनरूपी वृक्ष के छह फलों में तीसरे फल सत्वानुकम्पा की चर्चा हम कर आये हैं। अब हम चौथे फल सुपात्रदान की चर्चा करेंगे। 'शुभ' यानि उत्तम। 'सु' का अर्थ है–अच्छा। 'पात्र' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है–

"पाकारेणोच्यते पापं, त्रकारस्त्राणवाचकः।
अक्षरद्वयसंयोगे, पात्रमाहुर्मनीषिणः॥" –*याज्ञवल्क्य स्मृति*

'पा' का अर्थ है–पाप। 'त्र' का अर्थ है–रक्षा करना। इन दोनों अक्षरों के संयोग से पात्र शब्द की व्युत्पत्ति होती है, अर्थात् जो आत्मा को पाप से बचाता है, वह पात्र है। 'सु' शब्द पात्र के साथ लगाने से सुपात्र बन जाता है। अर्थात् उत्तम कोटि का पात्र।

पात्र परीक्षा

पात्र शब्द में से ही सुपात्र, कुपात्र और अपात्र शब्द निष्पन्न हुए हैं। इसलिए पात्र शब्द का लक्षण भलीभाँति समझ लेने पर सुपात्र, अपात्र और कुपात्र का लक्षण भी शीघ्र ही समझ में आ जायेगा, फिर भी आचार्यों ने सुपात्र, कुपात्र और अपात्र के पृथक्-पृथक् लक्षण सर्वसाधारण के समझने के लिए दिये हैं। जैसे सुपात्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार किया है–

(१) सुपात्र–*"सु = अतिशयेन, पापात् त्रायते इति सुपात्रम्।"*

–जो अपनी आत्मा की पाप से भलीभाँति रक्षा करता है, वह सुपात्र है। जहाँ-जहाँ पापकर्मों के आने का अंदेशा होता है, वहाँ-वहाँ वह अपने आप को सावधानीपूर्वक बचा लेता है। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है–जो पाप में पड़ते हुए संघ (समाज) के व्यक्तियों को धर्म का मार्गदर्शन, प्रेरणा या उपदेश देकर पाप से बचा लेता है, वह सुपात्र है। एक जैनाचार्य ने सुपात्र का लक्षण बताते हुए कहा है–

"सु = शोभनं पात्रं = स्थानं ज्ञान-दर्शन-चारित्र तपः क्षमा प्रशम-शील-दया-संयमादि गुणानाम्।"

अर्थात् जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा, शम, शील, दया, संयम

आदि गुणों का उत्तम स्थान है, वह सुपात्र है। वास्तव में मोक्ष के कारण भूतगुणों से युक्त व्यक्ति सुपात्र कहलाता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में सुपात्र को सुक्षेत्र कहा है और तदनुसार हरिकेशीय अध्ययन में यक्ष और ब्राह्मणों के संवाद के रूप में सुक्षेत्र का लक्षण बताया है–

"जे माहणा जाइ विज्जोववेया, ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं।
उच्चावयाइं मुणिणो चरंति, ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं॥"

–जो ब्राह्मण अथवा साधक जाति (चारित्र) और विद्या (ज्ञान) से युक्त है, वह ही क्षेत्र सुन्दर–शोभन क्षेत्र है। संयम के आग्नेय एवं उच्चावच पथों पर जो मुनि विचरण करते हैं, वे क्षेत्र सुशोभन क्षेत्र हैं। जो साधक (गृहस्थ या साधु) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अहिंसा सत्यादि सम्यक् चारित्र से युक्त हो, चाहे वह अणुव्रती हो या महाव्रती, वह सुपात्र है।

(२) अपात्र–आचार्य अमितगति 'श्रावकाचार' में अपात्र की परिभाषा करते हुए फरमा रहे हैं–

"गत कृपः प्रणिहन्ति शरीरिणो, वदति यो वितथं परुषवचः।
हरति वित्तमदत्तमनेकधा, मदनवाणहतो भजतेऽङ्गनाम्॥३६॥
विविध दोष विधायिपरिग्रहः, पिबति मद्यमयंत्रितमानसः।
कृमिकुलाकुलितैर्ग्रसते पलं, कलुष कर्म विधान विशारदः॥३७॥
दृढ़ कुटुम्ब परिग्रह पंजरः, प्रशम-शील-गुण-व्रतवर्जितः।
गुरु कषाय भुजंगम सेवितं, विषय लोलमपात्र मुशंतितम्॥३८॥"

–श्रावकाचार, अ. १०

–जो निर्दयी होकर प्राणियों की हिंसा करता है, कठोर वचन एवं झूठ बोलता है, बिना दिये हुए धन को अनेक प्रकार से हरण करता है, कामबाण से पीड़ित होकर स्त्री प्रसंग करता है। अनेक दोषों के जनक परिग्रह से युक्त है, स्वच्छन्द होकर शराब पीता है, जीव-जन्तुओं से व्याप्त माँस को खाता है, पापकर्म करने में चतुर है। कुटुम्ब-परिग्रह के मजबूत पींजरे में जकड़ा हुआ है, शम, शील और गुणव्रतों से रहित है और जो तीव्र कषायरूपी सर्पों से घिरा हुआ है, ऐसे विषयलोलुपी को आचार्य ने अपात्र कहा है।

(३) कुपात्र–'उत्तराध्ययनसूत्र के हरिकेशीय अध्ययन' में यक्ष और ब्राह्मणों के संवाद में कुपात्र एवं कुक्षेत्र की चर्चा की है–

"कोहो य माणो य वहो य जेसिं, मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइ विज्जा विहीणा, ताइं तु खेत्ताइं सु पावयाइं॥"

—जिनके जीवन में क्रोध, मान, हिंसा, असत्य और परिग्रह वृत्ति घर की हुई है, वे जाति (चारित्र) और विद्या (ज्ञान) से विहीन तथाकथित ब्राह्मण या साधक पापयुक्त कुक्षेत्र है। अर्थात् जिनमें क्रोध, मान, माया, लोभ तीव्र है, हिंसादि अव्रत है, अज्ञान और मिथ्यात्व (मिथ्यादृष्टि) से युक्त है, वह बाहर से चाहे जितना आडम्बर रच ले, बढ़िया कपड़े पहन ले, तिलक-छापे लगाकर चाहे भक्त का स्वांग रच ले, चाहे वह दिन में १० बार मन्दिर या धर्मस्थान में क्यों न जाता हो, वह उपर्युक्त कहे अनुसार सुपात्र नहीं, बल्कि कुपात्र है।

"उत्कृष्ट पात्रमनगार गुणव्रताड्ढ्यम्, मध्यंव्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निदर्शनं व्रत निकाय युतं कुपात्रम्, युग्मोज्झितं नरमपात्र मिदं तु विद्धि॥"

—हम इस श्लोक द्वारा उत्कृष्ट पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र, अपात्र और कुपात्र का पृथक्करण करके इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

महाव्रती अनगार उत्कृष्ट पात्र है, अणुव्रती मध्यम पात्र है, व्रतरहित सम्यक्त्वी जघन्य पात्र है और सम्यग्दर्शनरहित व्रतों से युक्त व्यक्ति कुपात्र है तथा सम्यक्त्व और व्रत दोनों से रहित मनुष्य अपात्र है, यह समझना चाहिए।

उपर्युक्त हम पात्र, सुपात्र, कुपात्र, अपात्र, इन सब की चर्चा कर आए हैं और अब हम दान शब्द की चर्चा करेंगे। वैसे दान का क्षेत्र बड़ा विस्तृत रूप धारण किये हुए है।

जैनधर्म में दान की व्याख्याएँ एवं लक्षण

दान का शाब्दिक अर्थ है—देना। जैनधर्म के मूर्धन्य विद्वान् एवं सूत्र-शैली में आद्य ग्रन्थ प्रणेता तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने दान शब्द का लक्षण किया है—

"अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गोदानम्।"

—अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।

इसी तत्त्वार्थसूत्र को केन्द्र में रखकर तत्त्वार्थभाष्य, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेनीयवृत्ति आदि में इसी सूत्र की व्याख्या की है, वह क्रमशः दी जा रही है—

"स्वपरोपकारोऽनुग्रहः, अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं वेदितव्यम्।"

–अपने और दूसरे का उपकार करना अनुग्रह है। इस प्रकार का अनुग्रह करने के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान समझना चाहिए।

"परानुग्रहबुद्धया स्वस्याति सर्जनं दानम्।"

–दूसरे पर अनुग्रह करने की बुद्धि से अपनी वस्तु का वर्णन करना दान है।

"आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम्।"

–अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए अपने अन्न-पानादि द्रव्य समूह का पात्र में उत्सर्ग करना–देना दान है।

"स्वस्य परानुग्रहाभिप्रायेणाऽतिसर्गो दानम्।"

–अपनी वस्तु का दूसरे पर अनुग्रह करने की बुद्धि से अर्पण (त्याग) करना दान है।

"परात्मनोरनुग्राही धर्मवृद्धिकरत्वतः।
स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दानं नामं गृहिव्रतम्॥"

–धर्म-वृद्धि करने की दृष्टि से दूसरे और अपने पर अनुग्रह करने वाली अपनी वस्तु का त्याग दान है, जिसे गृहस्थ व्रत रूप में अपनाते हैं।

"स्वपराऽनुग्रहार्थं दीयते इति दानम्।"

–अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए जो दिया जाता है, वह दान है।

"स्वपरोपकारार्थं वितरणं दानम्।"

–स्व और पर के उपकार के लिए वितरण करना दान है।

"आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये।
स्वपरानुग्रहायेत्थं यत्स्यात् तद्दानमिष्यते॥"

–अपने श्रेय के लिए और दूसरों के सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की समृद्धि के लिए, इस प्रकार स्व-पर अनुग्रह के लिए जो क्रिया होती है, वह दान है।

"अनुग्रहार्थं स्वोपकाराय विशिष्टगुणसंचयलक्षणाय परोपकाराय सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रादिबुद्धये स्वस्य धनस्यातिसर्गोऽतिसर्जनं विश्राणनं प्रदानं दानम्।"

अनुग्रहार्थ यानि अपने विशिष्ट गुण संचय रूप उपकार के लिए और दूसरों के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि वृद्धि रूप उपकार के लिए स्व धन का अति सर्जन करना–देना दान है।

इस प्रकार ये सब व्याख्याएँ तत्त्वार्थसूत्रकार के लक्षण को केन्द्र बनाकर उसके इर्द-गिर्द घूमने वाली व्याख्याएँ हैं। भारतीय संस्कृति के एक मननशील मेधावी मनीषी ने कहा–

"देवै सो देवता।"

–जो दूसरों को देता है, वह देव है। अर्थात् जो अर्पण करता है, वह देवता है, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र जी महाराज ने 'योगशास्त्र' में दान का लक्षण बताते हुए कहा है–

"दानं पात्रेषु द्रव्य विश्राणनम्।"

इस लक्षण के अनुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट जो भी दान के सुपात्र एवं पात्र हैं, उन्हें अपनी वस्तु देना दान कहलाता है। इसी प्रकार का एक लक्षण आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'तत्त्वार्थसूत्र हरिभद्रीया वृत्ति' में किया है–

"दानं सर्वेष्वेतेषु स्वस्याहारादेरतिसर्जन लक्षणम्।"

–सभी प्रकार के इन पात्रों में अपने आहार आदि का त्याग करना–देना दान है। यह लक्षण भी पूर्वोक्त लक्षण से मिलता-जुलता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र की टीका एवं प्रवचनसारोद्धार में दान का लक्षण यों किया है–

"लब्धस्यान्नस्य ग्लानादिभ्योवितरणे।"

–प्राप्त अन्न को ग्लान, रोगी, वृद्ध, अपाहिज और निर्धनों में वितरण करना दान है। जो भी व्यक्ति दान के लिए पात्र है, उसे अपनी वस्तु प्रेमभाव से दे देना दान है।

आद्य शंकराचार्य ने दान का अर्थ किया है–"दानं संविभागः।" दान का अर्थ है–सम्यक् वितरण–यथार्थ विभाग अथवा संगत विभाग।

मानव-जीवन की श्रेष्ठता दान रूप धर्म का आचरण करने में ही है। ऐसा न होने पर उसमें तथा एक पशु में कोई भी अन्तर दिखाई नहीं देगा। उदर-पूर्ति तो पशु भी कर लेते हैं और मानव भी करें तो उसमें उसकी क्या महत्ता है? इसलिए प्रत्येक ज्ञानवान और विवेकी मानव को इस पशु वृत्ति से अपने आप को ऊँचा उठाकर दानधर्म को अंगीकार करना चाहिए तथा अपने जीवन को सार्थक करना चाहिए।

सद्गृहस्थ का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य दान देना ही है। जिस मानव के हृदय में दान देने की भावना नहीं होती उसका हृदय बंजर भूमि के समान गुणहीन होता है। दान के गुण कहाँ तक गिनाए जायें, एक श्लोक में कहा गया है–

"दानेन भूतानि वशीभवन्ति, दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोपि बन्धुत्वमुपैति दानैर्दानं हि सर्वं व्यसनानि हन्ति॥"

–दान से समस्त प्राणी वश में हो जाते हैं, दान से चिर शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया व्यक्ति भी अपना हो जाता है तथा अधिक क्या कहा जाये? दान से समस्त विपत्तियों का नाश होता है। दिया हुआ दान कभी निष्फल नहीं जाता, वह शुभ कर्मों के रूप में ब्याज सहित पुनः मिल जाता है। उपदेश तरंगिणी के अन्दर बहुत आचार्य ने कहा है–

"व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं, व्यवसाये चतुर्गुणं।
क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, दानेऽनन्तगुणं भवेत्॥"

–ब्याज से दुगुना, व्यापार से चौगुना, खेत से शतगुणा, किन्तु दान देने से अनन्त गुणा लाभ होता है। अन्य व्यवसायों में तो फिर भी हानि की संभावना रहती है किन्तु दान देने से जो पुण्योपार्जन किया जाता है उसमें कभी टोटा आने की संभावना नहीं होती। इससे साबित होता है कि दान का महत्त्व कितना अधिक है।

दान शुभ क्रिया होने से पुण्यबन्ध का कारण है। सुपात्रदान होने से गुणों के पोषण की भावना से युक्त होने पर बोधिबीज की प्राप्ति होती है। मुनिराज रत्नत्रय की खान इसलिए हैं कि उनसे रत्नत्रय की उपलब्धि होती है। जो अतिथि, साधु को देखकर भक्तिभाव से गद्गद हो जाता है और उन्हें एषणीय आहारादि बहराता है और वह आहार के समय मुनि को आहारदान की भावना करने वाला, क्षणभर में ही अनादिकालीन के चक्र को तोड़ देता है। यह क्षणिक् भावनाभ्यास शाश्वत सुख की ओर कद बढ़ाने की प्रेरणा देता है।

सुपात्र को प्रतिलाभित करने की उत्कृष्ट भावना अनेक भाव रोगों का उपचार करती है। सुपात्रदान की परमोत्सुकता दीनता को दूर करती है। निर्दोष आहार वहराने से उत्तम कोटि का पुण्यबन्ध होता है। सुपात्रदान देकर हर्षित होने से भाव-बन्धन टूटते हैं, जिससे द्रव्य-बन्धन का अभाव होता है और प्रमुखत्व प्राप्त होता है। सुपात्रदान का उत्कृष्ट भावना से भावभूषण (सद्गुणों की प्राप्ति) और द्रव्यभूषण (शारीरिक सौन्दर्य, जनप्रियत्व, विभूषा आदि) का लाभ होता है। जैसे–सती चन्दनबाला।

सती चन्दनबाला–चम्पा नाम की नगरी, जिसका राजा दधिवाहन था। दधिवाहन की महारानी धारिणी। जिसके एक कन्या है, जिसका नाम वसुमती था। बाद में चन्दनबाला रखा गया था।

कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पानगरी पर चढ़ाई कर दी। लूटमार मचा दी। युद्ध में दधिवाहन राजा मारा गया। धारिणी एवं चन्दनबाला एक रथवान के साथ चल दीं। रास्ते में रथवान की दृष्टि बदल गई। विकारमय हो गई। महारानी धारिणी को मन की बात कही। शील-रक्षा हेतु जुबान खींची, आत्महत्या कर ली। चन्दना घबरा गई। रथवान ने देखा, घबरा गया। चन्दना भागने को हुई। रथवान ने आवाज दी–"हे वसुमती ! घबराओ नहीं, मैं आपकी रक्षा करूँगा।" उसको घर पर ले आया। घर वाली कलहकारिणी। "घर में इसको नहीं रखूँगी। जाओ बाजार में बेच आओ।"

बाजार में लाकर खड़ा कर दिया। एक वेश्या आई। उसने देखा। सवा लाख स्वर्ण सोनैया का मूल्य हो गया। "मेरे साथ चलो।" "कहाँ पर?" "मेरे साथ।" "मेरे से क्या काम लोगी?" "बस खाना-पीना, नये-नये कपड़ों को पहनना और राजा, मन्त्री, सेठ, साहूकार आदि-आदि लोगों की वासनापूर्ति करना।" "नहीं, नहीं, ऐसा कभी भी नहीं हो सकता।" वेश्या कहती है। वसुमती मना करती है। आपस में खींचातानी हो गई। वसुमती ने महामंत्र नवकार का ध्यान लगाया। पंच परमेष्ठि अधिष्ठायक देव ने बन्दरों का उपद्रव मचाया तो वेश्या घबरा गई।

इतने में कौशाम्बी नगरी का प्रसिद्ध सेठ धनावाह आ पहुँचा। उसने देखा–यह क्या हो रहा है? सेठ आगे बढ़ा, उस कन्या को अपने घर पर ले आया। सवा लाख स्वर्ण सोनैया वापस कर दी। पुत्री बनाकर अपने घर में रख लिया। सेठ की सेठानी मूला।

सेठ का कहीं कार्यवशात् जाना हुआ। पीछे से मूला सेठानी ने सिर मुण्डित कर, हाथों में हथकड़ियाँ, पैरों में बेड़ियाँ, नीचे तलघर में छोड़ दिया। वह अपने पीहर चली गई। सेठ आया। चन्दनबाला पुकारा। तलघर में देखा। यह सब देखकर आश्चर्यचकित। लुहार लेने गया। दरवाजे की दहलीज में है।

मुण्डित मस्तक वाली, तन पर पूरे वस्त्र भी नहीं हैं। एक पाँव दहलीज के अन्दर है और दूसरा बाहर। हँस रही है और रो भी रही है। करुणासिन्धु भिक्षु महावीर आये हैं। खाने के लिए चन्दनबाला के हाथ सूप और उसमें उड़द के बाँकुले हैं। तीन दिन से भूखी-प्यासी है। भावना भाई। भगवान आये। आहार लिया। देवों द्वारा पुष्प वृष्टि। सिर पर पूर्ण केश। तन पर वस्त्र-आभूषण पहले की तरह शोभित हो गये। यह सब सुपात्रदान का महत्त्व है।

दिया हुआ कभी व्यर्थ नहीं जाता

"दीन को देने से दया होत पुनि, मित्र को देने से प्रीति बढ़ाये,
वैरी को देने से वैर रहे नहीं, शायर को दिए कीर्ति गाये।
चाकर को दिये काम करे बहु, याचक को दिए आदर पावे,
साधु को देने से मोक्ष मिले सही, हाथ को दिए वृथा न जावे॥"

धन का अभाव मनुष्य को दीन-हीन बना देता है; परन्तु विचारकों का कहना है कि जो व्यक्ति धनाभाव से ग्रस्त तो हो, परन्तु मन से उदार है, बुद्धि से उदार है, वह व्यक्ति धन का अभाव होते हुए भी वास्तव में दानी है। साधुओं के पास धन का बिलकुल अभाव होता है, तीर्थंकर तक भी अकिंचन और अपरिग्रही होते हैं, उनके पास में भौतिक धन का एक अंश भी नहीं होता परन्तु धन का अभाव होते हुए भी वे मन, बुद्धि और वाणी से उदार होते हैं। वे अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता, जीवनदाता, बोधिदाता, धर्मदाता आदि होते हैं।[1] वे अपनी ओर से सर्वस्व लुटाते हैं। जो भी जिज्ञासु याचक उनके पास आता है, वह कुछ न कुछ पाता है। उन्हें सांसारिक प्राणियों को इस प्रकार का दान देकर आत्म-सन्तोष होता है, आत्म-तृप्ति होती है।

यह सत्य है कि जो मन का और बुद्धि का दरिद्र है, उसे अपने पास कुछ होते हुए भी दूसरों को देना, उसके अभाव की पूर्ति करना अखरता है। वह सोचता है इतना धन कम हो जायेगा। मैं अकेला किस-किसको दूँगा? अभावग्रस्त तो बहुत हैं मैं तो एक ही हूँ। एक विचारक ने इसी शंका को उठाकर सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है–

"एकोऽयं पृथिवीपतिः क्षितितले लक्षाधिका भिक्षुकाः।
किं कस्मै वितरिष्यतीति किमहो एतद् वृथा चिन्त्यते॥
आस्ते किं प्रतियाचकं सुरतरुः, प्रत्यम्बुजं किं रविः।
किं वाऽस्ति प्रतियाचकं प्रतिलता गुल्मञ्च धाराधरः॥"

अर्थात् अहो ! भूतल पर यह राजा तो एक ही है, लाख से अधिक भिक्षुक याचक हैं, यह अकेला किस-किसको क्या देगा? इस प्रकार की चिन्ता करना व्यर्थ है। क्या प्रत्येक याचक के लिए एक-एक कल्पवृक्ष है? या प्रत्येक कमल को विकसित

---

१. अभयदयाणं, चक्खुदयाणं .... धम्मदयाणं ....।
–शक्रस्तव (नमोत्थुणं) पाठ, आवश्यकसूत्र

करने के लिए एक-एक सूर्य है अथवा प्रत्येक पपीहे के लिए या प्रत्येक लता और गुल्म के लिए एक-एक मेघ है। ऐसा तो नहीं है ये तो एक-एक ही हजारों लाखों की आवश्यकता पूर्ति करते हैं। मनुष्य अगर थोड़ा-सा शारीरिक और आर्थिक कष्ट उठाकर भी दूसरों का कष्ट दूर करे तो उसे एक प्रकार का अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। दूसरों को खिलाकर खाने में अथवा भूखे रह जाने में भी आत्म-तृप्ति का अनुभव होता है। इसके विपरीत, दूसरों को भूखे देखकर भी स्वयं अपना पेट भर लेने में आत्म-ग्लानि होती है। दूसरों को सुखी करने से मनुष्य को जो कृतकृत्यता की स्वयं अनुभूति होती है वह अन्य उपाय से दुर्लभ है।

जो है, वही दो

जो वस्तु मनुष्य के पास है उससे वह दूसरों को भी लाभ उठाने दे। यदि उसके पास रुपये नहीं हैं तो अन्य साधन तो हो ही सकते हैं, जिनसे आप दूसरों की–कष्ट-पीड़ितों की, अपने से दुर्बल प्राणियों की सहायता कर सकते हैं। दान के बहुत-से साधन हैं।

महाभारत में एक सुन्दर प्रसंग इस सम्बन्ध में अंकित है–द्रोणाचार्य जब अपनी दीन अवस्था में परशुराम से कुछ माँगने महेन्द्र पर्वत पर गये तो त्यागी परशुराम ने कहा–"मैं तो अपनी सारी सांसारिक विभूतियाँ दान में दे चुका हूँ, अतएव तुम्हें धन देने में असमर्थ हूँ। मेरे पास विद्या ही शेष है, तुम चाहो तो उसे ले सकते हो। द्रोण ने विद्यादान लेना स्वीकार किया। इसी प्रकार देने और लेने की कितनी ही वस्तुएँ होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि आपके पास महादानी कर्ण के कवच-कुण्डल हों तभी आप दान करने का साहस करें। कवच-कुण्डल न सही सुपात्र को एक समय का भोजन और प्यासे को पानी ही दे देते हैं तो दान का लाभ अवश्य मिलेगा, किसी को अपना बना बनाया घर नहीं दे सकते तो संकट में शरण तो दे ही सकते हैं। किसी को और कुछ नहीं तो शक्ति, सहयोग, बौद्धिक परामर्श, सहानुभूति, आश्वासन, शुभ कामना, आशीर्वाद, सान्त्वना ही दें तो वह दान की कोटि में आ सकता है। यह तो एक भ्रम है कि किसी को देने से कमी हो जायेगी। दान देने से लक्ष्मी बढ़ती है, ज्ञान देने से ज्ञान की वृद्धि होती है, दान और परोपकार के पीछे लोगों की शुभ कामनाएँ, हार्दिक शुभाशीर्वाद और लोक बल रहता है। परमार्थ से तो पुरुषार्थ ही प्रकट होता है। संवाद के रूप में एक रूपक प्रस्तुत करता हूँ।

देने वाला सौ गुना पाता है

धरती बोली–"वृक्षो ! मैं तुम्हें खाद-पानी देती हूँ, रस देती हूँ, उससे अपने

आप को तृप्त करो, पुष्ट करो, किसी को दो मत।" वृक्ष बोला–"नहीं, माँ ! मैं देता हूँ तभी फलता हूँ। मुझे दिये बिना शान्ति नहीं होती।" वृक्ष ने अपने फल दिये, पत्ते दिये, पथिकों को छाया दी, पक्षियों को बसेरा दिया, वृक्ष पतझड़ में सूख रहा था तब भी उसकी यही कामना थी कि कोई आये और मेरी सूखी लकड़ियाँ ले जाकर अपना काम चलाये। वसन्त ऋतु आई। प्रकृति से वृक्ष को फूल, पत्ते, फल मिल गये। वृक्ष ने जितना चाहा उससे अधिक उसे मिला। वह हरा-भरा हो गया।

गंगा नदी हिमालय से चली तो हिमालय ने उसे बहुत रोका कि "तुम यहीं रहो, आगे न बढ़ो, अपना जल यों ही न लुटाओ।" गंगा ने कहा–"मुझे लोक-कल्याण के लिये जाना ही पड़ेगा।" गंगा वहाँ से निकली और प्यासी धरती, सूखी खेती तथा व्याकुल जीव-जन्तुओं को शीतल जल लुटाती हुई आगे बढ़ी तो हिमालय का हृदय स्वतः द्रवित हो उठा। उसने जल उँड़ेलना शुरू किया और गंगा जितनी गंगोत्री में थी गंगा-सागर में पहुँचते सौ गुनी बड़ी होकर जा मिली। इसलिए कबीरदास जी ने कहा भी है–

"चिड़िया चोंच भर ले गई, नदी न घटियो नीर।
दान दियो धन न घटे, कह गये दास कबीर॥"

जो निरन्तर दान करता है वह निर्बाध प्राप्त भी करता है। आज का दिया हुआ कल हजार गुना होकर लौटता है। तिथि न गिनो, समय की प्रतीक्षा न करो। विश्वास रखो–आज दोगे तो कल तुम्हें कई गुना मिलेगा। लोक-मंगल के लिए जो अपनी क्षमताएँ, सम्पदाएँ दान करते हैं समय भले ही लगा हो परन्तु दान, त्याग और परोपकारार्थ उत्सर्ग ही जीवन को महान् और परिपूर्ण बनाता है। स्वामी विवेकानन्द जी ने एक बार कहा था–"अगर तुम कुछ प्राप्त करना चाहते हो तो देने को तैयार हो जाओ। देने में आनन्द है। पाने का एकमात्र उपाय यही है इस जगत् का यही नियम है जो नियम को जान लेता है उसे परिपूर्ण तृप्ति पाने की साधन-सामग्री मिलती है। यदि समुद्र अपना जल बादलों को न दे तो उसे नदियों द्वारा अनन्त जलराशि प्राप्त करते रहने की आशा छोड़नी होगी। जो मल त्याग नहीं करना चाहता उसके पेट में तनाव और दर्द बढ़ेगा। उसे नया सुस्वादु भोजन पाने का अवसर नहीं मिलेगा। कुआँ अपना जल न दे तो उसका पानी सड़ जायेगा। इसलिये आगे कबीरदास जी ने कहा है–

"पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥"

शालिभद्र अपने पूर्व-जन्म में संगम नाम का ग्वाला था। उसकी माँ आसपास में धनिकों के यहाँ का गृहकार्य करने से जो कुछ मिलता उसी से अपना पेट और बेटे की गुजर-बसर करती थी। एक बार संगम धनिकों के बच्चों से खीर खाने की बात सुनकर मचल पड़ा खीर खाने के लिए, परन्तु गरीब माता उसे खीर कहाँ से देती। बहुत समझाया, पर उसने तो हठ ही पकड़ ली। उसे रोते देख सेठानियों ने उसकी माँ को खीर की सामग्री दी। माता ने खीर बनाकर दी तथा कहा–"बेटा ! मैं अब काम पर जा रही हूँ, थाली में ठण्डी करके तू खीर खा लेना।" खीर थाली में ठण्डी हो रही थी, तभी एक मासिक उपवासी मुनिवर पारणे के लिए भिक्षार्थ पधारते हुए देखे। संगम की भावना जागी कि मैं भी यह खीर ऐसे तपस्वी मुनि को दे दूँ तो कितना अच्छा हो। बस मुनिराज को प्रार्थना करके वह बुला लाया। थाली में जो खीर थी वह मुनि के पात्र में उच्च भावों से बहराने लगा। सोचा–'मैं तो फिर खा लूँगा, ऐसे तपस्वी मुनि का संयोग फिर कहाँ मिलेगा।' क्योंकि प्रभु ने फरमाया है–

"देता भावे भावना, लेता करे सन्तोष।
कहे वीर सुन गोयमा ! दोनों जावें मोक्ष॥"

सारी की सारी खीर उसने मुनिराज को प्रबल उल्लास से दी। मुनिराज भी शुद्ध भावों से आहार लेकर पधार गए। उसी दान के प्रबल परिणाम के फलस्वरूप राजगृह नगर के सबसे अधिक धनाढ्य गोभद्र सेठ के पुत्र के रूप में उसे जन्म मिला। खीर का क्या मूल्य था परन्तु उसने सुपात्र को अपना सर्वस्व दिया था।

निष्कर्ष यह है कि संगम ने अपनी गरीबी को न देखकर सुपात्र को थोड़ा-सा दान दिया। बदले में उसने लाखों करोड़ों गुना पाया। 'पद्मपुराण' में भी स्पष्ट कहा–

"दानं दरिद्रस्य विभोः क्षमित्वं, यूनां तपो ज्ञानवतां च मौनम्।
इच्छानिवृत्तिश्च सुखोचितानां, दया च भूतेषु दिवं नयन्ति॥"

अर्थात् दरिद्र का दान, सामर्थ्यशील की क्षमा, युवकों का तप, ज्ञानियों का मौन, सुख भोग के योग्य पुरुष की स्वेच्छा निवृत्ति, समस्त प्राणियों पर दया, ये सब गुण स्वर्ग में ले जाते हैं।

सुपात्रदान का अचिन्त्य फल

ऋषभपुर नगरवासी अभयंकर सेठ जितना धनिक था, उतना ही दान में शूरवीर था। उनके यहाँ चारुमति नाम का एक नौकर था। वह सेठ-सेठानी को प्रबल भावना से दान देते देख मन में सोचा करता–'धन्य है इनको। कितने उत्कट

भाव से दान देते हैं? परन्तु मैं अभागा हूँ। क्या कर सकता हूँ? मेरे पास कुछ भी द्रव्य नहीं है। अगर द्रव्य होता तो मैं भी दान देता।'

कई बार मनुष्य के हृदय में दान देने की भावना जागती है परन्तु वह उस भावना को दबा देता है। किसी समय तो वह अपने मन को यों मना लेता है जब मुझसे इतने बड़े-बड़े धनिक दुनिया में पड़े हैं वे सब तो दान नहीं देते, मैं तो इनके सामने तुच्छ हूँ। मैं अपनी थोड़ी-सी पूँजी में से कैसे दान दे सकूँगा? असल में देखा जाता है कि धनिक लोगों के पास प्रचुर धन साधन आदि होते हैं। इसलिए उनकी उन पर ममता-मूर्च्छा भी उतनी ही अधिक होती है, अपने हृदय को समझाकर दान देने का निर्णय करने में भी उतनी ही देर लगती है जबकि निर्धन को अपनी थोड़ी-सी पूँजी या साधनों पर ममता-मूर्च्छा तो होती है, मगर उसमें अपनी दान की शक्ति का गौरव जगाने पर तथा दान लाभ समझने पर वह झटपट निर्णय पर आ जाता है, शीघ्र ही दान देने के लिए तैयार हो जाता है।

यही बात हुई। सेठ ने समझाया–"चारुमति ! तू भी दान दिया कर। तेरे पास जो भी है, उसमें से तू मुनिवरों को दान दे सकता है। सुपात्रदान का फल बहुत बड़ा होता है।" परन्तु वह कहने लगा–"सेठानी ! मेरे पास तो रोजाना खाने-पीने जितना ही होता है। बचता कुछ भी नहीं; फिर मैं मुनिवरों को कैसे दान दे सकता हूँ।"

एक बार अभयंकर सेठ चारुमति को अपने साथ गुरु-दर्शन के लिए उपाश्रय में ले गया। वहाँ मुनिवर ने उससे कहा-"भाई ! दान, शील, तप, भावना, ये चार धर्म के अंग हैं। इनमें से तेरे पास सभी शक्तियाँ हैं। तू भी यथाशक्ति धर्माचरण कर सकता है, सुपात्रदान कर सकता है, दिन-प्रतिदिन दिया हुआ सुपात्रदान अनन्त गुणा बन जाता है।"

गुरुदेव यह कह रहे थे कि एक व्यक्ति गुरुदेव से कुछ प्रत्याख्यान (त्याग) करने के लिए आया। गुरुदेव ने उसे प्रत्याख्यान कराया। तब चारुमति ने पूछा–"भगवन् ! इस प्रकार के प्रत्याख्यान से भी कुछ धर्म होता है?" गुरुदेव बोले–"हाँ भाई ! इस प्रकार के प्रत्याख्यान करने से भी धर्म होता है।" यह सुनकर चारुमति ने कहा–"भगवन् ! आज मुझे भी उपवास का प्रत्याख्यान करा दीजिए।" इस प्रकार गुरुदेव से उपवास का नियम करके घर आया। सोचा–'आज साधु मुनिराज पधारें तो मैं अपने भोजन में से उन्हें देकर प्रतिलाभित होऊँ।' सेठ के यहाँ से उसे प्रतिदिन खाने के लिए भोजन मिलता था। आज उपवास के कारण उसने वह भोजन बचाकर रखा। संयोगवश एक मुनिराज भिक्षा के लिए पधार रहे थे। उन्हें विनती करके वह घर लाया और अत्यन्त उत्कट भाव से जो भोजन सेठ

से अपने हिस्से का लिया था, सब-का-सब मुनि के पात्र में बहरा दिया। उस सुपात्रदान के प्रभाव से उसे शुभ गति और शुभ योनि का आयुष्य बंध हुआ।

चन्दनबाला जिस समय धनावह सेठ के घर पर तीन दिन के उपवास के साथ दहलीज पर बैठी थी। पारणे के लिए सिर्फ उड़द के बाँकुले ही थे परन्तु उस परवश चन्दनबाला के मन में दान देकर पारणा करने की भावना उमड़ी। संयोगवश कठोर अभिग्रह धारक भगवान महावीर पधार गए। उन्होंने अपने मनःसंकल्पित अभिग्रह की १३ बातों में से सिर्फ एक बात की कमी देखी–आँखों में अश्रु। इसलिए लौटने लगे। बस, चन्दनबाला की आँखों से अश्रुधारा बह निकली। दीर्घ तपस्वी भगवान वापस मुड़े। चन्दनबाला ने अपने पारणे के लिए रखे हुए वे उड़द के बाँकुले प्रबल भावनापूर्वक भगवान महावीर को दिये। वह धन्य हो उठी। उड़द के बाँकुले का क्या मूल्य था? मूल्य तो भावना का था जिसने चन्दनबाला को दान के माध्यम से उच्च पद पर पहुँचा दिया। सुपात्र को दिया हुआ कभी निष्फल नहीं जाता।

विदुरानी के केले के छिलकों का क्या महत्त्व था? परन्तु कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने विदुरानी के दिये हुए केले के छिलकों को न देखकर उसके पवित्र भावों को देखा और उसका वह भोजन स्वीकृत किया। शबरी के दिए हुए झूठे बेरों का मूल्यांकन क्यों इतना अधिक किया गया है। इसीलिए कि उसके पीछे सुपात्रदान व उत्कट भक्ति-भावना थी महाभारत में (शान्ति पर्व) में इसी बात की पुष्टि की गई है–

"सहस्रशक्तिश्च शतं, शतशक्तिर्दशाऽपि च।
दद्यादपश्च यः शक्त्या, सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः॥"

–यदि हजार रुपयों की शक्ति वाले ने सौ रुपये, सौ रुपये की शक्ति वाले ने दस रुपये दिये और किसी ने अपनी शक्ति अनुसार चाहे थोड़ा-सा पानी भी सुपात्र को दान में दिया तो ज्ञानी पुरुषों ने इन सब का फल समान बतलाया है।

"अप्पास्मा दक्खिणा दिन्ना, सहस्सेन समं मताः।"

चाहे थोड़ा दें परन्तु शुद्ध भावों से दें अपनी ओर से सुपात्र को जानकर जो विशेष उत्कट भावों से दान देता है वह थोड़ा-सा दान भी हजारों लाखों के दान की बराबरी करता है।

● ●

पाँचवाँ फल : गुणानुराग

मनुष्य-जन्मरूपी वृक्ष के छह फल बताए गए हैं। जिसमें से पहला जिनेन्द्र पूजा, दूसरा गुरु की सेवा, तीसरा प्राणीमात्र पर दया करना और चौथा है सत् पात्र को दान देना। इन चारों का वर्णन पिछले चार व्याख्यानों में कर आए। अब पाँचवाँ फल जोकि गुणानुराग है, उस पर विचार चर्चा करनी है।

गुणानुराग

गुणानुराग का अर्थ है–गुणों को देखकर प्रेम भाव उत्पन्न होना तथा हृदय में प्रसन्नता का भाव आना। गुणों के प्रति अनुराग रखना गुणानुवाद कहा जाता है। जिन व्यक्तियों का गुणों के प्रति अनुराग होता है, वे दूसरों के गुणों को देखकर प्रमुदित होते हैं। दानी पुरुष को देखकर उसकी सहायता करते हैं। तपस्वी को देखकर मन में श्रद्धा का भाव लाते हैं। शीलवान् के प्रति अपना मस्तक झुकाते हैं तथा संयमी के लिए हृदय में पूज्य भावना रखते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति में जो भी गुण होता है, उसके लिए वे महान् आदर का भाव रखते हैं। गुणानुरागी व्यक्ति सदैव यही भावना रखता है।

मेरी भावना

"गुणी जनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे॥
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे।
गुण ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे॥"

–गुणीजनों को देखकर मेरा मन खुशी से भर जाए, भले ही मुझमें गुणों का अभाव हो। त्याग, तपस्या आदि मुझसे न हो पाएँ और धन के अभाव में दान का अभाव भी न उठा सकूँ। पर मैं चाहता हूँ कि गुणज्ञ पुरुषों की सेवा अपनी शक्ति के अनुसार करूँ तथा उससे ही मन में असीम प्रसन्नता का अनुभव करूँ।

गुणों का महत्त्व

भारत में प्राचीनकाल से ही गुणीजनों का आदर-सत्कार होता आया है। यहाँ

की विशेषता रही है कि गुणों को महत्त्व दिया जाता है। 'रघुवंश महाकाव्यम्' में महाकवि कालिदास ने कहा–

"पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते।"

–गुण अपना सर्वत्र प्रभाव जमा लेते हैं।

"गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।"

–गुणों से आकृष्ट सम्पदाएँ गुणी के पास अपने आप आ जाती हैं।

"गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः।"

–गुण ही मनुष्य को गुरुता देते हैं, समूह नहीं। चाणक्य नीति में कहा है–

"गुणैः भूष्यते रूपम्।"

–गुण से ही रूप की शोभा होती है। साधक को गुणानुरागी होना उतना ही आवश्यक है, जितना सूर्योदय होना। आत्म-कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए जीवन को सद्‌गुणों से युक्त होना अत्यावश्यक है।

इसलिए गुणों के प्रति अनुराग होना तो सर्वश्रेष्ठ कार्य है। महाकवि शैक्सपियर ने कहा है–

"Virtue alone is happiness in the world."

–केवल सद्‌गुण ही वसुन्धरा पर सुख है। सद्‌गुणों का संचय करना और दुर्गुणों का त्याग करना इन्सान का मूल उद्देश्य होना चाहिए। आचार्य सोमप्रभसूरि ने मानवरूपी वृक्ष का पाँचवाँ गुण गुणानुराग वर्णित किया है। सोना हजार वर्ष तक भी कीचड़ में पड़ा रहे तब भी अपने गुण का परित्याग नहीं करता। चकमक पत्थर कितने समय तक ही पानी में पड़ा रहे तब भी अपनी उष्णता को समाप्त नहीं करता। इसी प्रकार गुणी व्यक्ति कहीं भी रहे, वह सद्‌गुणों का संचय करना नहीं छोड़ता।

गुणानुरागी व्यक्ति की ओर ही गुण आकृष्ट होते हैं और उसकी आत्मा को दीप्तिमान करते हैं। कहा भी है–

"विवेकिनमनुप्राप्ता गुणाः यान्ति मनोज्ञताम्।
सुतरां रत्नमाभाति चामीकरनियोजितम्॥"

–जिस प्रकार स्वर्ण जटित रत्न अत्यन्त सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार विवेकी मानव को पाकर गुण सुन्दरता को प्राप्त होते हैं। निर्गुण का महत्त्व नहीं होता है।

जैसे–टेसू का फूल देखने में बड़ा सुन्दर आकर्षक लगता है किन्तु लोगों के द्वारा वह पसन्द नहीं किया जाता जबकि कुरूपता को देखा तो उठा ले गया और दूसरे दिन एक नवीन चित्र तैयार करके पुनः चौराहे पर लगा दिया और उसमें लिख दिया कि इसमें जो गुण हों उन्हें पर्ची पर लिखकर रख देवें, इस चित्र पर हाथ न लगावें, तो किसी ने चित्र के गुणों को भी नहीं लिखा और न चित्र पर हाथ ही लगाया। इस उदाहरण से शिक्षा मिलती है कि लोगों की दृष्टि छिन्द्रान्वेषी है, दोषों को देखने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु गुणों पर दृष्टि नहीं डालते इसीलिए संसार-सागर में गोते खाते रहते हैं।

छिद्रान्वेषण मत करो–कविकुल भूषण पूज्यपाद श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज अपने एक कवित्त के द्वारा प्राणी को सदुपदेश देते हैं कि तू औरों की निन्दा मत कर, औरों के दोष मत देख। अगर देखना ही है तो अपने स्वयं के दोष देख। जिससे आत्म-शुद्धि हो सके। इसे काव्य में कहा है–

"छिद्र पर देख निंदा करें केम, छोड़ के छिद्र सुगुण लहीजे।
बंबूल देख के काँटा ग्रहे मत, छाया ते शीतल होय सहीजे॥
तुच्छ असार आहार है धेनु को, क्षीर विगय तामें सार कहीजे।
त्रिलोक कहत स्वछिद्र को टालत, काहे को अन्य का छिद्र ग्रहीजे॥"

–हे प्राणी ! तू दूसरों का छिद्रान्वेपण क्यों करता है? पर-दोष दर्शन करके उनकी निन्दा करने से तुझे कौन-सा लाभ होने वाला है? कोई नहीं, अतः दूसरों के दोष देखना छोड़कर उनमें जो गुण हैं केवल उन्हें ही ग्रहण करना सीख।

बबूल का पेड़ तेरे समक्ष है, तो क्या यह आवश्यक है तू उसमें से काँटे ग्रहण करे ही? नहीं, काँटों को छूने की आवश्यकता नहीं है। असह्य धूप है, पैरों में जूते नहीं हैं तथा पास में कोई अन्य वृक्ष नहीं है तो दो घड़ी तू बबूल की छाया में बैठकर विश्राम कर। शूलदरख्त पर हैं तो रहने दे। छाया में तो शूल नहीं हैं? तू केवल छाया को ही क्यों नहीं देखता? काँटों को किसलिए देखे जा रहा है? बबूल के शूलरूपी छिद्रों को देखने से मुझे क्या लाभ है? और न देखे तो कौन-सी हानि है? फिर व्यर्थ का कार्य करना ही किसलिये? उसे न करना ही अच्छा है। एक कवि ने बहुत सुन्दर कहा है–

"दोष पराया देख के, चले हसंत-हसंत।
अपने याद न आवही, जिनका आदि न अंत॥"

अर्थात् दूसरे में तो अगर एक भी दोष दिखाई दे जाये तो व्यक्ति हँसने लगता है तथा प्रसन्न होता है, किन्तु अपने उन दोषों को नहीं देखता जिनकी कोई गिनती ही नहीं है। यानि न जिसकी आदि है और न अन्त है। इसीलिए कवि श्री त्रिलोक ऋषि जी महाराज का कथन है कि तू ऐसा उल्टा काम कर ही मत। दूसरे के अवगुणों को देख-देखकर अपने अवगुणों में वृद्धि मत कर।

जैसे—एक गाय है। वह खाती है तथा कभी-कभी मलिन पदार्थ भी ग्रहण कर लेती है। किन्तु उससे तुझे क्या मतलब है? गाय क्या खाती है और क्या नहीं? इसकी चिन्ता छोड़कर तुझे तो केवल उसका दूध, दही, मक्खन और घी आदि सार पदार्थ ही ग्रहण करना है। अन्त में कहा गया है—अरे अज्ञानी ! अगर तुझे दोष ही देखने हैं तो औरों के क्यों देखता है? अपने ही क्यों नहीं देखता। औरों के दोष देखने से आखिर तुझे क्या लाभ होगा? अपने स्वयं के देख लेगा तो कुछ आत्म-सुधार तो कर सकेगा। इसलिए उचित यही है कि अपने आप में झाँक, आत्म-निरीक्षण कर। जिन्होंने ऐसा किया है, उनका कहना भी है—

"बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो घर सोधा आपना, मुझसे बुरा न कोय॥"

वस्तुतः सच्चे महापुरुष अपना ही दोष दर्शन करते हैं।

दोषदर्शी न बनें

गुण जहाँ भी हो, वहाँ से ग्रहण करना चाहिए, दोषों को छोड़ना चाहिए या किसी में दोष है तो उसके विषय में मौन रहना चाहिए किन्तु आजकल उल्टा कार्य हो रहा है।

एक चित्रकार था। उसने एक सुन्दर चित्र बनाकर चौराहे पर लटका दिया, साथ ही लिख दिया कि इसमें जो दोष हों वे लिख दिये जावें, इसमें सुधार कर दिया जायेगा। जो भी उस रास्ते से निकलता। उस चित्र को देखता और दोष निकालकर उस पर लिख देता जिससे उस सुन्दर चित्र का रूप ही विकृत हो गया। सायंकाल चित्रकार आया और उसने चित्र की कुरूपता को देखा तो उठा ले गया और दूसरे दिन एक नवीन चित्र तैयार करके पुनः चौराहे पर लगा दिया और उसमें लिख दिया कि इसमें जो गुण हों, उन्हें पर्ची पर लिख देवें, इस चित्र पर हाथ न लगावें, तो किसी ने चित्र के गुणों को भी नहीं लिखा और न चित्र पर हाथ ही लगाया।

इस उदाहरण से शिक्षा मिलती है कि लोगों की दृष्टि छिन्द्रान्वेषी है, दोषों को

देखने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु गुणों पर दृष्टि नहीं डालते। इसीलिए भवसिन्धु में भटकते रहते हैं।

गुणी साधक के पास गुण स्थिर हैं

मानव को गुणों का प्रशंसक बनना चाहिए। मानव की दृष्टि तो यही रहनी चाहिए कि जहाँ से गुण मिलें, उन्हें ग्रहण करना चाहिए। 'नीतिवाक्यामृत' में आचार्य सोमप्रभसूरि ने कहा है–

"गुणाः गुणज्ञेषु गुणी भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।"

–गुण गुणवान व्यक्ति के पास जाकर गुणयुक्त हो जाते हैं, सार्थकता को प्राप्त होते हैं, किन्तु वही गुण गुणहीन के पास दोषरूप हो जाते हैं, जिनका कोई महत्त्व नहीं रहता। एक मूर्ख व्यक्ति घर में रखी हुई मूर्ति पर चटनी पीसने लगता है या उसके ऊपर कपड़े धोने लगता है किन्तु बुद्धिमान् शिल्पी राह में पड़े हुए पत्थर को उठाकर लाता है, उसमें छैनी-हथौड़े के प्रयोग से एक मूर्ति तैयार करता है। अतः गुणी व्यक्ति गुणग्राही ही होते हैं। किसी संस्कृत के विद्वान् ने ठीक ही कहा है–

"संसारे सुखिनो जीवा, भवन्ति गुणग्राहकाः।
उत्तमास्ते हि विज्ञेयाः, कृष्णवद् दन्तपश्यकाः॥"

एक बार देवराज इन्द्र ने अपनी देवसभा में कहा–"इस समय मृत्युलोक में द्वारिका नगरी के महाराजा त्रिखण्डाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण सबसे श्रेष्ठ एवं गुणग्राही, गुणानुरागी पुरुष हैं। उनके गुणों को देखकर उनके चरणों में मेरा मस्तक झुकता है।" सभी देवों ने सुनी, बड़े प्रसन्न हुए। लेकिन एक देव को इन्द्र की बात नहीं जची। कहता है–"महाराज ! जब तक उनकी परीक्षा नहीं ले लूँगा, तब तक मुझे पूर्ण विश्वास नहीं होगा।" इन्द्र ने कहा–"देव ! तुम हार जाओगे और वे जीत जायेंगे। बाकी मर्जी आपकी है। जैसा चाहो वैसा कर लो।" वह देव परीक्षा हेतु आ गया मृत्युलोक में। आप जानते हैं, देव का शरीर वैक्रियमयी होता है, जैसा रूप बनाना चाहें बना सकते हैं। देव ने मरे कुत्ते का रूप बनाया और रास्ते में पड़ गया। शरीर में से गन्दगी इतनी भयंकर कि वहाँ निकलना मुश्किल हो गया है। शरीर में से मवाद बह रही है, कीड़े बिलबिला रहे हैं। त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण वासुदेव अपनी हाथी की सवारी पर और साथ में अनेक सेवक तथा प्रजाजन के बाईसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जा रहे हैं। रास्ते में मरे कुत्ते को देखा, सभी ने नाक, मुँह ढक लिया और थू-थू करके आगे निकल

गए। किन्तु श्रीकृष्ण ने उस कुत्ते को देखा और कहा–"अहो आश्चर्य ! इस मरे हुए कुत्ते के दाँत देखो कैसे चमक रहे हैं। जैसे मोती चमक रहे हैं।"

श्रीकृष्ण ने दुर्गन्ध को नहीं देखा, दाँतों की सुन्दरता को देखा, इसी प्रकार सड़ी हुई दुर्गन्ध की ओर उनका ध्यान नहीं गया। जो शरीर में दोष आया था, उसे न देखकर, बल्कि गुण को देखा। देव ने देखा और कुत्ते से असली रूप में आ गया। श्रीकृष्ण वासुदेव के चरणों में पड़ गया और क्षमा याचना माँगने लगा। प्रभु ! आप जीते, मैं हारा। धन्य है आपका जीवन और धन्य है आपकी सच्ची गुणग्राहकता एवं गुणदर्शन-परायणता। देव श्रीकृष्ण की जय-जयकार करता हुआ, जहाँ से आया था, वहाँ चला गया।

इसमें श्रीकृष्ण की गुणग्राहकता का कितना सुन्दर वर्णन है। जो गुणों का प्रेमी होता है, वह सर्वत्र गुण ही देखता है, दोष नहीं। उसकी दृष्टि निर्मल होती है। मेरी भावना में एक कवित्त आता है, जैसे–

"गुण ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे।"

हमें गुणग्राही बनना है। दुकान में जाकर सैकड़ों वस्तुओं में से अपनी पसन्द की कोई विशेष वस्तु का ही चयन किया जाता है। इसी प्रकार लाखों दोषों को भी छोड़कर गुण ग्रहण कर लिये जाते हैं। मैं प्रत्येक सद्गृहस्थ को कहता हूँ कि बुराई छोड़कर अच्छाई ग्रहण करो। शास्त्रकार का कहना है–

"सम्मत्त सोम्मदिट्ठी धम्मं विचारं जइठिइ गुणइं।
कुणइ गुणसंपउग्गो दोसो दूरं परिवज्जइ॥"

अर्थात् मध्यस्थ और सौम्यदृष्टि वाला पुरुष धर्म का विचार करता है। इससे वह गुणों का संग्रह करता है तथा दोषों को दूर करता है। गुणवान् वही बनता है, जो दोषों का परिमार्जन करता है।

"क्षारं भावमपहाय वारिदैः, गृह्यन्ते सलिलमेव वारिदाः।"

–जैसे मेघ समुद्र के खारेपन को छोड़कर केवल जल को ही ग्रहण करते हैं, वैसे ही सद्गृहस्थ भी दुर्गुणरूपी खारे पानी को छोड़कर सद्गुणरूपी स्वादिष्ट जल को ग्रहण करते हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा है–

"कंखेगुणे जाव सरीरभेउ।"

–सद्गुणी के गुण छिपकर नहीं रहते, प्रगट हो ही जाते हैं। ● ●

छठा फल : श्रुतिरागमस्य : आगम-श्रवण

मनुष्य-जन्मरूपी वृक्ष के छह फल आचार्य श्री सोमप्रभसूरि ने अपने एक श्लोक में बताये हैं–जिसमें पहला फल जिनेन्द्र पूजा, दूसरा गुरु की सेवा, तीसरा प्राणीमात्र पर अनुकम्पा के भाव, चौथा सुपात्र को दान देना, पाँचवाँ गुणी व्यक्ति के गुणों के प्रति अनुराग रखना और इन पाँचों की चर्चा हम पीछे व्याख्यानों में कर आये। अव हमें छठे फल जोकि 'श्रुतिरागमस्य' यानि 'सद्शास्त्र श्रवण' पर आपके समक्ष कुछ विचार चर्चा करनी है।

श्रुतिरागमस्य का अर्थ

श्रुतिः + आगमम्य = श्रुतिरागमस्य। प्राचीन भारतीय तत्त्व-चिन्तन दो धाराओं में प्रवाहित हुआ है–श्रुति और श्रुत। श्रुति वेदों की वह पुरातन संज्ञा है, जो ब्राह्मण संस्कृति से सम्बन्धित प्राचीन वैदिक विचारधारा और उत्तरकालीन शैव, वैष्णव आदि धर्म-परम्पराओं का मूलाधार है और श्रुत श्रमण संस्कृति की प्रमुख धारा के रूप में मान्य जैन विचार परम्परा का मूल स्रोत है। श्रुति और श्रुत में शव्दतः एवं अर्थतः इतना अधिक साम्य है कि जिस पर से सामान्यतः सहृदय पाठक को भारतीय चिन्तन पद्धति का मूल में कहीं कोई एक ही उद्गम प्रतिभासित होने लगता है। श्रुति और श्रुत दोनों का ही श्रवण से सम्बन्ध है। जो सुनने में आता है वह श्रुत है और वही भाववाचक श्रवण श्रुति है। श्रुति की व्याख्या हम कर आये हैं, अब आगम की व्याख्या करेंगे।

आगम शब्द का अर्थ

आ + गम् = आगम। 'आ' उपसर्ग, गम् धातु से निष्पन्न हुआ है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ है–पूर्णता। 'गम्' धातु का अर्थ है–गति। आगम शब्द की अनेक परिभाषाएँ करते हुए आचार्यों ने कहा है–

"आ-समन्ताद् गम्यतेवस्तुतत्त्वमनेनत्यागमः।"

–जिससे वस्तु-तत्त्व का यथार्थ, परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है।

"आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्धयन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागम्।"

"जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो, वह आगम है।" "जो तत्त्व आचार परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है।" "आप्तवचन से उत्पन्न अर्थ (पदार्थ) ज्ञान आगम कहा जाता है।" "उपचार से आप्तवचन भी आगम माना जाता है।" "आप्त का वचन आगम है।" "जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है, वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।" "इस प्रकार आगम शब्द समग्र श्रुति का परिचायक है, पर जैनदृष्टि से वह विशेष ग्रन्थों के लिए व्यवहृत होता है।" आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने 'आवश्यकनिर्युक्ति' में सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है–

"तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमिय नाणी।
तो मुयइ नाणबुद्धिं भवियजण विवोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयर भासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥"

–तप नियम ज्ञानरूप वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान भव्य आत्माओं के विबोध के लिए ज्ञान कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि पट में उन सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचन माला गूँथते हैं। तीर्थंकर केवल अर्थरूप में उपदेश देते हैं और गणधर उसे ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं।

सूत्र का अर्थ

प्राकृत भाषा में सुत्त शब्द आता है, जिसके तीन रूप हैं–सूत्र, श्रुत और सुप्त।

(१) सूत्र का पहला अर्थ है–धागा। धागा बिखरे हुए अनेक फूलों को एक माला में गूँथ सकता है, इसी प्रकार सूत्र बिखरे हुए अनेक विचारों, अर्थों को एक वाक्य माला में गुंफित कर लेता है।

(२) सूत्र का दूसरा अर्थ है–श्रुतज्ञान। जिस सुई में सूत्र–धागा पिरोया हुआ रहता है, वह सुई गिर जाने पर भी खोती नहीं, खो जाने पर खोज निकालना सहज हो जाता है। उसी प्रकार सूत्र–श्रुतज्ञान से युक्त आत्मा संसार की वासनाओं में भटक जाने पर भी सहजतया सम्भल जाती है और आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। श्रुतज्ञान आत्मा को स्वस्थ बनाने वाला है। श्रुतज्ञान ही विकारों को जलाने वाला महातेज पुँज है। मुक्ति सौध पर चढ़ने के लिए श्रुतज्ञान सोपान है। संसार-सागर से पार होने के लिए सेतु (पुल) है। आत्मा को स्वच्छ एवं निर्मल

करने के लिए विशुद्ध जल है। जिनवाणी दिव्य अनुभव एवं अद्‌भुत औषधि है, जो भवरोग यानि कर्मरोग को सदा के लिए नष्ट कर देती है, यह वैषयिक सुख का विरेचन करने वाली दवा है। चिरकाल व्याप्त मोह विष को उतारने वाला यह जिनवचनरूप पीयूष है, जोकि जन्म-जरा-मरण, विविध आधि-व्याधि को हरण करने वाला अचूक नुस्खा है। सर्व दुःखों को ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक क्षय करने वाला यदि विश्व में कोई ज्ञान है तो वह आगम ज्ञान है। आगम ज्ञान आत्मा में अद्‌भुत शक्ति स्फूर्ति, अप्रमत्तता को जगाता है। श्रुतज्ञान से 'स्व' और 'पर' दोनों को लाभ होता है। भगवान महावीर ने कहा है–आत्मा श्रुतज्ञान से ही धर्म में स्थिर रह सकता है, स्वयं धर्म में स्थिर रहता हुआ, दूसरों को भी धर्म में स्थिर कर सकता है। अतः श्रुतज्ञान चित्त समाधि का मुख्य कारण है। भव-समुद्र को पार करने के लिए सर्वोत्तम नाव श्रुतज्ञान है।

(३) सूत्र का तीसरा अर्थ है–सुप्त। जो शब्दों की शय्या पर भावों की गहराई लिए सोया रहता है। सोए हुए व्यक्ति को जगाने पर वह प्रबुद्ध होकर कार्यरत हो जाता है, उसी प्रकार सुप्त भाव व अर्थ जिसमें छिपा रहता है और जिसे चिन्तन के द्वारा जाग्रत करके अनेक प्रकार का विज्ञान प्राप्त किया जा सके, वह है सूत्र।"

श्रुत और श्रुति की चर्चा कर आये हैं। श्रुत की चर्चा बड़ी विशाल रूप धारण किये हुए है। सामान्यतः श्रुत का अर्थ है–सुनना। क्योंकि श्रु धातु से श्रुत शब्द निष्पन्न हुआ है। श्रुत ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर निरुप्यमान पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनना या सुनाना मात्र है, वह श्रुत है। श्रवण करने का बहुत महत्त्व है।

भारतीय संस्कृति में दो परम्पराएँ महत्त्वपूर्ण रही हैं–पहली स्वाध्याय और दूसरी श्रवण। प्राचीन गृहस्थ प्रातः उठते ही शास्त्र स्वाध्याय करता या किसी ऋषि और सन्त के पास पहुँचकर उनके मुख से दो शब्द सुनता। आज तो युग बदला है, संस्कृति बदली है। दो नई परम्पराएँ आई हैं। बिस्तर से उठते ही चाय देवी का स्वागत करना है, दूँसरा पेपर पढ़ना।

प्राचीन युग की संस्कृति की छाया आगमों में मिलती है। उसमें उस युग के रहन-सहन, आचार-व्यवहार के रेखासूत्र बिखरे मिलते हैं। कथानुयोग देखें तो वहाँ ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति श्रवण को कितना महत्त्व देती है। जहाँ कहीं वर्णन आता है, अमुक नगर में प्रभु महावीर पधारे हैं या कोई सन्त पधारे हैं।

सन्त के आगमन की खबर शहर में हवा की भाँति फैल जाती थी। चारों ओर राजमार्ग–उपमार्ग सभी ओर एक हलचल-सी मच जाती। घर-घर में चर्चा चल पड़ती–आज प्रभु पधारे हैं, चलो उनके मंगलमय दर्शन करेंगे। उनकी स्पर्शिनी वाणी के दो शब्द कानों में पड़ेंगे। चारों ओर से जन-समूह उमड़ पड़ता। यह उनके सत्य श्रवण की उमड़ती भावना का परिचायक था।

श्रवण के द्वारा आत्मा अपने आप की पहचान करता है। कल्याण-पथ क्या है? पाप-पथ क्या है? श्रवण विकास की राह और विनाश की राह बताता है। श्रवण का काम केवल राह दिखाना है। किस रास्ते पर चल पड़ना है, यह चुनाव स्वयं करना है। वह तो दृष्टि देता है। चलना पैरों को होगा, पर हाँ श्रवण उलझी हुई गुत्थी को बड़ी बेखूबी से सुलझा देता है।

अब यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है–श्रवण करना चाहिए, किसका श्रवण करें? सद्शास्त्र का। शास्त्र-श्रवण मानव-जीवन को उन्नत बनाने का सर्वोत्तम साधन है। जब तक मनुष्य शास्त्र-श्रवण नहीं करता तब तक उसे मालूम नहीं पड़ता कि उसके लिए हेय क्या है और उपादेय क्या है? अर्थात् उसके लिए छोड़ने योग्य क्या है और ग्रहण करने योग्य क्या है?

शास्त्र शब्द की व्याख्या करते हुए उपाध्याय यशोविजय जी कह रहे हैं–शास्त्र शब्द में दो धातुएँ हैं–शाशु + त्रेङ्। इनका अर्थ क्रमशः अनुशासन करना और रक्षा करना है।

"यस्माद् रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे।
संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः॥" –ज्ञानसार

अर्थात् राग-द्वेष से उद्धत चित्त वालों को धर्म में अनुशासित करता है एवं उन्हें दुःख से बचाता है, अतएव वह सत्पुरुषों द्वारा शास्त्र कहलाता। उपर्युक्त शास्त्र शब्द का अर्थ किया–'शाशु + त्रेण'। शाशु का अर्थ है–अनुशासन करना। त्रेण का अर्थ है–त्रायण। जो भव-सागर से पार करे, दुर्गति से रक्षा करे, अर्थात् जिसके द्वारा स्व आत्मा पर अनुशासन करने की शिक्षा, पद्धति, प्रणाली उपलब्ध हो और अठारह पापों से रक्षा करे वह शास्त्र है। 'हितोपदेश की प्रस्ताविका' के अन्दर शास्त्र का महत्त्व बताते हुए कहा है–

"अनेकसंशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥"

–शास्त्र अनेक संशयों का नाश करने वाला है, छिपे हुए अर्थ को दिखाने वाला है एवं सारे जगत् का नेत्र है, जिसके पास शास्त्ररूप ज्ञान नहीं है, वह अन्धा है। मनुष्य अपने चर्मचक्षुओं से जगत् के समस्त दृश्यमान पदार्थों को देखता है, किन्तु शास्त्र-श्रवण से जो उसके ज्ञान नेत्र खुलते हैं, उनके द्वारा वह अपनी आत्मा को देखता है तथा आत्मिक गुणों की पहचान करता है। इसलिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि व्यक्ति जहाँ तक भी बन सके शास्त्र-श्रवण करे।

शास्त्र-श्रवण किसलिए ?

अगर व्यक्ति धर्मशास्त्र सुनता है तो उसका चित्त एक अनिर्वचनीय संतुष्टि और प्रसन्नता से भर जाता है। हृदय में रहे हुए पापपूर्ण एवं कलुषित विचार नष्ट हो जाते हैं तथा उनके स्थान पर पवित्र एवं शान्तिदायक विचार जन्म ले लेते हैं। शास्त्र-श्रवण का मन पर बड़ा गहरा असर पड़ता है। भले ही कभी-कभी उनकी भाषा समझ में न आये किन्तु एक अवर्णनीय संतुष्टि मन पर इस प्रकार छा जाती है कि मानस शुद्ध और पवित्र बनने लगता है। जैसे–एक मंत्रवादी सर्प के विष को उतारने का मंत्र पढ़ता है तो जिस व्यक्ति को सर्प ने काटा है उसकी समझ में मंत्र की भाषा और उसका अर्थ नहीं आता। किन्तु तब भी उसका मन भयरहित तथा आशापूर्ण हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप वह विषरहित होने लगता है। इसी प्रकार शास्त्रों की भाषा कभी समझ में नहीं भी आती है, तब भी मनुष्य का मन एक नैसर्गिक पवित्रता के प्रकाश से भर जाता है और उसके फलस्वरूप पाप की कालिमा धीरे-धीरे मिटने लगती है।

शास्त्र-श्रवण प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार पौष्टिक भोजन से शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार धर्म-श्रवण से आत्मा को बल मिलता है। एक कवि ने भजन की पंक्तियों में लिखा है–

"एक वचन जो सत्गुरु केरो, जो राखे दिल मांय रे प्राणी।
नीच गति में ते नहिं जावे, इम भाखे जिनराय रे प्राणी॥"

भजन की पंक्तियाँ शास्त्रानुकूल, पारमार्थिक एवं अत्यन्त तात्त्विक हैं। भले ही इसकी भाषा सरल और सीधी है किन्तु शास्त्र-सम्मत है। 'रायप्रश्नीयसूत्र' में मूल पाठ में भी आता है–

"एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा।"

जो एक शब्द भी भगवान के वचनों में से सुन लेता है, वह नीच गति में नहीं जाता। कवि ने भी कह दिया है कि अगर एक वचन भी सत्गुरु का सुनकर हृदय

में धारण करते तो वह प्राणी निकृष्ट गति में नहीं जाता ऐसा जिनराज का कथन है। एक बात और कही गई है कि सत्गुरु के वचन को जो दिल में रख ले अर्थात् उसे ग्रहण कर ले तो वह कुगति में नहीं जाता। सुनने का सार भी यही है कि उसे ग्रहण किया जाये। भले ही व्यक्ति प्रतिदिन का सुना हुआ सभी याद न रख सके पर दो शब्द या दो वाक्य भी वह हृदयंगम कर ले तो धीरे-धीरे हृदय में ज्ञान का उज्ज्वल आलोक जरूर प्रसारित होगा। एक न एक दिन आत्मा के द्वारा खुलेंगे तथा उसमें धर्म का प्रवेश होकर रहेगा।

सद्शास्त्र श्रवण से जीव को क्या लाभ ?

देवाधिदेव भगवान महावीर से पृच्छा की—"भंते ! सद्शास्त्र का श्रवण करने से जीव को क्या लाभ प्राप्त होता है?" उत्तर—"ज्ञान की प्राप्ति होती है।" भगवान ने फरमाया है—"हे जीवात्माओ ! यदि आत्मा को जाग्रत करना चाहते हो तो ज्ञान का उपार्जन करो। ज्ञान से आत्मा को आलोकित किया जाता है।" इसलिए 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा है—

"पढमं नाणं तओ दया।"

—सबसे पहला स्थान ज्ञान का है और उसके बाद दया अर्थात् क्रिया है, आचरण है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने कहा है—

"ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः।"

—ज्ञान और क्रिया को मुक्ति का उपाय बताया है। अज्ञानी जिसे साध्य साधन का भी ज्ञान नहीं है, वह क्या कर सकता है? वह अपने कल्याण और अकल्याण को भी कैसे जान सकता है? भगवान महावीर ने 'दशवैकालिकसूत्र' में कड़ी से कड़ी पिरोकर कहा है—

"सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥"

अर्थात् सुनकर ही कल्याण को जानता है, सुनकर ही पाप को जानता है और दोनों को भी सुनकर ही जानता है, अतः जो आत्मा के लिए हितकारी हो, उसका आचरण करो।

"जो जीव के स्वरूप को नहीं जानता और अजीव के स्वरूप को नहीं जानता, इस प्रकार जीवाजीव के स्वरूप को नहीं जानने वाला वह साधक संयम को कैसे जानेगा? नहीं जान सकता।"

"जो जीव के स्वरूप को जानता है तथा अजीव के स्वरूप को भी जानता है, इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को जानने वाला वह साधक निश्चय ही संयम के स्वरूप को जान सकेगा।"

"जब आत्मा जीव और अजीव इन दोनों के स्वरूप को जान लेता है, तब सभी जीवों की बहुत भेदों वाली नरक तिर्यंच आदि नानाविध गति को भी जान लेता है।"

"जब सभी जीवों की बहुत भेदों वाली नरक तिर्यंच आदि नानाविध गति को जान लेता है, तब पुण्य और पाप को तथा बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है।"

"जब पुण्य और पाप को तथा बन्ध और मोक्ष को जान लेता है, तब देव-सम्बन्धी और मनुष्य-सम्बन्धी कामभोग है, उसकी असारता को समझकर उन्हें छोड़ देता है।"

"जब जो देव और मनुष्य-सम्बन्धी कामभोग है, उसकी असारता को समझकर उन्हें छोड़ देता है, तब राग-द्वेष कषायरूप आभ्यंतर और माता-पिता तथा सम्पत्ति रूप बाह्य संयोगों को छोड़ देता है।"

"जब आभ्यंतर और बाह्य संयोगों को छोड़ देता है, तब द्रव्य और भाव से मुण्डित होकर अनगार वृत्ति को ग्रहण करता है, तब उत्कृष्ट और सर्वश्रेष्ठ संवर धर्म को प्राप्त करता है।"

"जब उत्कृष्ट और प्रधान संवर धर्म को प्राप्त करता है, तब आत्मा के मिथ्यात्व से उपार्जित किये हुए कर्मरज को झाड़ देता है।"

"जब आत्मा के मिथ्यात्व परिणाम द्वारा उपार्जित किये हुए कर्मरूपी रज को झाड़ देता है, तब सभी पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।"

"जब सभी पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब राग-द्वेष का विजेता केवलज्ञानी होकर लोक और अलोक के स्वरूप को जान लेता है।"

"जब राग-द्वेष का विजेता केवलज्ञानी होकर लोक और अलोक को जान लेता है, तब कर्मरूपी रज से रहित होकर और समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष चला जाता है, सिद्ध, बुद्ध निरंजन हो जाता है।"

देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया है–"मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी धर्म का श्रवण सुनना दुर्लभ है। जिसे सुनकर जीव तप, शान्ति और अहिंसा को अंगीकार करते हैं। सुनकर ही हमें ग्राह्य, अग्राह्य, पाप-पथ व पुण्य-पथ का ज्ञान होता है।" 'भगवतीसूत्र' में कहा गया है–

"सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हये तवे चेव वोदाणे, अकिरिया सिद्धि॥"

अर्थात् श्रवण (सत्संग होते ही धर्म-श्रवण) फिर ज्ञान, विज्ञान, फिर प्रत्याख्यान, तत्पश्चात् संयम, संयम से अनास्रव, फिर तप से व्यवदान (कर्मक्षय) और व्यवदान से अक्रिया (योग निरोध) और फिर सिद्धि (मुक्ति) होती है।

साधु-साध्वियों की संगति में आने वाला सर्वप्रथम उनके उपदेश श्रवण करता है, उससे हिताहित, सत्यासत्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, फिर वह उस ज्ञान को यत्किंचित् यथाशक्ति आचरण में लाता है, जिससे उसे विज्ञान–अद्‌भुत ज्ञान हो जाता है। यह है कि सत्संग के क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते मोक्ष-प्राप्ति की प्रक्रिया।

वस्तुतः साधु-साध्वियों के पास जब कोई दर्शन वन्दन पर्युपासण करने जाता है, अर्थात् सत्संग करने जाता है, तब सर्वप्रथम उसे धर्मोपदेश श्रवण का लाभ होता है। धर्मोपदेश श्रवण से सत्संगी को वस्तु-तत्त्व का ज्ञान होता है। तत्पश्चात् उस जानकारी से ऊहापोह करते-करते हित-अहित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का अथवा हेय-ज्ञेय-उपादेय का विज्ञान (विवेक) होता है। हेयादि विवेक होने पर हेय अव्रत का अथवा हिंसा आदि अविरति का त्याग (प्रत्याख्यान) करता है। इस प्रकार के प्रत्याख्यान से १७ प्रकार का संयम होता है। संयम से अनायास ही हिंसादि आस्रवों का निरोध हो जाता है, अर्थात् नये कर्मों का आगमन रुक जाता है, संवर हो जाता है। फिर तो पुराने कर्मों का क्षय करना ही रहता है जो तप से होता है, उत्कट तप आदि से व्यवदान–सर्वकर्मों का क्षय हो जाता है। सर्वकर्मों का क्षय हो जाने से अक्रिया की स्थिति–शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है। शैलेशी अवस्था के बाद तो सिद्धि-मुक्ति निश्चित है। यह प्रक्रिया सत्संग से मोक्ष-प्राप्ति की है।

हाँ, तो आप श्रवण करें, क्योंकि श्रवण में ऐसी बातें आपको मिलेंगी, जो आपकी उलझी हुई गुत्थियों को एक मिनट में सुलझा देंगी। मनुष्यत्व के श्रवण में विकास का जितना महत्त्व है, आध्यात्मिक जीवन में भी श्रवण उतना ही महत्त्व रखता है।

श्रवण के साथ आचरण का शोक रखें। श्रवण कुछ है पर सब कुछ नहीं। अग्नि पर लिखे गये निबन्ध पढ़ने से ठण्ड दूर नहीं हो सकती, वह तो अग्नि के सान्निध्य से ही दूर होगी, तो कोई श्रवण या वाचन से ही आत्म-विकास नहीं हो सकता। आत्म-विकास के लिए आचरण की अग्नि चाहिए तभी जीवन में चमक आयेगी। श्रवण आचरण में उतरकर ही जीवन के रहस्यों को समझा सकेगा।

श्रवण करने का उपदेश क्यों ?

''माणुस्स विग्गह लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं॥'' –*उत्तराध्ययनसूत्र*

अर्थात् मनुष्य का शरीर पाकर धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे श्रवण करके मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार कर पाता है। मनुष्य-जीवन के लिए श्रवण और उसमें भी श्रोतव्य का (जो सुनना चाहिए उसका) श्रवण परम उपलब्धि है। श्रवण मानव के लिए वरदान है, वह मनुष्य को अभीष्ट पथ पर चलने के लिए प्रेरक और मार्गदर्शक है। 'नीतिशतक' में भर्तृहरि ने कहा है–

''श्रोत्रं श्रुतेनैव न तु कुण्डलेन्।''

–कान की शोभा श्रोतव्य का श्रवण करने में है, कुण्डल से नहीं।

तीर्थंकरों ने धर्म-श्रवण करने में दक्ष नर-नारियों को श्रावक एवं श्राविका का पद दिया है। श्रावक-श्राविका पद कोई सामान्य शब्दों या संगीत ध्वनियों को सुनने वालों का नहीं है, यह विशिष्ट श्रोताओं के लिए है। श्रवण गुण का आराधक होने से ही गृहस्थ उपासक को 'श्रावक' कहा जाता है। इसलिए मानव-जीवन में इस श्रोतव्य के श्रवण का विशेष महत्त्व है।

अमूल्य मानव-जीवन मिला है तो श्रोतव्य का श्रवण करो। यह तुम्हारे जीवन का पवित्र पाथेय है। पवित्र श्रवण ही तुम्हारी बुद्धि, हृदय, मन, प्राण और इन्द्रियों को पवित्र बना सकता है, वही तुम्हारे अज्ञात मन में सुसंस्कारों का सिंचन कर सकता है। इसलिए महर्षियों ने सर्वप्रथम श्रोतव्य-श्रवण का उपदेश दिया है। 'ऋषिभाषितसूत्र' की टीका में एक कथा आती है।

उदाहरण–*एक बार भगवान के दो शिष्य–धर्मघोष और धर्मयश सोरियपुर* नगर के बाहर वन में ध्यान-साधना कर रहे थे। वे एक वृक्ष के नीचे ठहरे।

मध्याह्न काल हुआ तब भी उस वृक्ष की छाया ढली नहीं, जैसी सुबह थी वैसी ही स्थिर रही। यह देखकर मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। दोनों एक-दूसरे से पूछने लगे–"क्या यह आपकी तपोलब्धि का प्रभाव है?" दोनों ही क्रमशः वहाँ से हटे, तब भी छाया स्थिर रही। उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ। भगवान के पास आये और पूछा तो भगवान महावीर ने बताया–

आज से बहुत समय पहले की बात है। सोरियपुर में राजा समुद्रविजय के शासन में यज्ञदत्त तापस रहते थे। वे एक दिन पूर्वाह्न में अशोक-वृक्ष के नीचे अपने नन्हे शिशु नारद को सुलाकर खेत में धान्य कण चुनने चले गये। सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर ढलने लगा तो बालक पर सूर्य की तेज किरणें गिरने लगीं। तब उस समय वैश्रमण जाति के जृम्भक देव उधर से निकले। वृक्ष की छाया में एक तेजस्वी शिशु को अकेला सोया देखकर वे वहाँ रुक गये। बालक के प्रति उनके हृदय में सहज ही स्नेह उमड़ आया। जब अवधिज्ञान लगा देखा तो पता चला, यह शिशु हमारे जृम्भक देवनिकाय से च्यवकर ही यहाँ आया है तो एक प्रकार से हमारी बिरादरी का ही है। इसलिए देवताओं ने वृक्ष की छाया को स्थिर कर दिया, बालक की देह पर अब छाया स्थिर हो गई। तब से इस वृक्ष की छाया स्थिर है।

बाद में बालक नारद बड़ा हुआ। माता-पिता ने उसे विद्याएँ पढ़ाईं। गुरु-कृपा से नारद ने अनेक प्रकार की विद्याएँ हस्तगत कर लीं। विद्याबल से उसे सोने की कुण्ड (कांचन कुण्डिका) और मणिपादुका (खडाऊँ) भी प्राप्त हो गई जिसके बल से वह पक्षी की भाँति ऊँचे आकाश में मनचाही उड़ानें भरने लगा।

एक बार देवर्षि नारद गये। वहाँ वासुदेव श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा–"शौच क्या है?" नारद इसका उत्तर न दे सके। वे समाधान के लिए महाविदेह-क्षेत्र पहुँचे। वहाँ देखा–सीमंधर तीर्थंकर से युगबाहु वासुदेव भी यही प्रश्न पूछ रहे थे तो प्रभु ने कहा–"सत्य ही शौच है।"

नारद इस समाधान को पाकर पुनः द्वारिका आए और वासुदेव श्रीकृष्ण से कहा–"सत्य ही शौच है।" परन्तु वासुदेव ने प्रतिप्रश्न किया–"सत्य क्या है?" नारद इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सके। संशयलीन नारद इस पर गहरे चिन्तन में डूब गये। इस पर ऊहापोह करते-करते उन्हें जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया। वे स्वयं प्रतिबोध पाकर प्रत्येकबुद्ध हो गये।

अतः सत्य क्या है? इसका उत्तर उन्होंने दिया-"श्रोतव्य-श्रवण ही सत्य है और वही पवित्र (शौच) है। धर्म-श्रवण करने से बढ़कर अन्य कोई शौच नहीं है।

धर्मोपदेश-श्रवण : उत्तम गुणों के अर्जन के लिए

जिन वचनों के पुनः-पुनः श्रवण करने से मुख्यतया तीन गुण उपलब्ध होते हैं। जैसा कि 'सावय पण्णत्ति' (३) में कहा है-

"नव-नव संवेगो खलु, नाणावरण खओवसमभावो।
तत्ताहिगमो य तहा, जिणवयण सवणस्स गुणा॥"

(१) मोक्ष की अभिलाषा स्फुरित होती है, (२) ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, और (३) तत्त्वज्ञान की उपलब्धि होती है। जिनवचन-श्रवण से ये तीन लाभ होते हैं। उपदेश-श्रवण करने से सच्चा श्रोता चार गुणों को धारण करता है। जैसे कि विंशतिविंशिका (१/१८) में कहा है-

"मज्झत्थपाइ नियमा, सुबुद्धि जोएण अत्थियाए य।
नज्जइ तत्तविसेसो, न अन्नहा इत्थ जइयव्वं॥"

उपदेश-श्रवण से मध्यस्थता, नियमितता, उत्तम बुद्धि का योग और अर्थिता (उद्देश्य के अनुकूल पुरुषार्थ करने की योग्यता) आती है और इनके कारण तत्त्वबोध होता है। इसमें कोई अन्यथा नहीं है। अतः इन गुणों के उपार्जन के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जो महामानव अपने हाथों से दान कर देता है, मस्तक को गुरुजनों के समक्ष झुकाता है, मुख से सत्य बोलता है, कानों से शास्त्र-श्रवण करता है तथा हृदय को स्वच्छ रखते हुए अपने पुरुषार्थ के बल पर सफलता हासिल करता है। उस पुरुषोत्तम को प्रकृति विना ऐश्वर्य के भी सुन्दरता प्रदान करती है। मनुष्य के सद्गुण ही उसके सच्चे आभूषण होते हैं तथा उसका शुद्ध और निष्कपट हृदय आभूषणों का पिटारा है। महाकवि शेक्सपियर ने कहा भी है-

"A good heart is worth gold."

-सुन्दर हृदय का मूल्य स्वर्ण के सदृश्य है। इसलिए हमारा शरीर सद्गुणरूपी अलंकारों से अलंकृत हो। उन अलंकारों में से एक अलंकार शास्त्र-श्रवण है जोकि हमारे जीवन का निर्माता है।

शास्त्रों का श्रवण करने से ही वुद्धि का विकास होता है। मानसिक वल बढ़ता है तथा आत्मिक गुण प्रकाशित होते हैं। जो व्यक्ति जिन-वचनों पर विश्वास नहीं

करता, उन्हें सुनने और ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं करता, वह 'स्व' और 'पर' में भेद नहीं कर सकता। वह यह भी नहीं जान पाता कि आत्मा को संसार में भटकाने वाले कौन-से कारण हैं तथा उसे मुक्त करने के साधन कौन-कौन-से हैं? परिणाम यह होता है कि वह मनुष्य-जन्म पाकर भी उसका लाभ नहीं उठा पाता और इस देह को छोड़ने के बाद भी पुनः नाना प्रकार की योनियों में भटकने के लिए चल देता है। किन्तु हमें ऐसी भूल नहीं करनी है। हमें तो मनुष्य-जन्मरूपी वृक्ष के समस्त फलों को प्राप्त करते हुए अपनी आत्मा को निरन्तर ऊँचा उठाना है तथा ऐसा प्रयत्न करना है कि इसकी अनन्त काल से चली आ रही यात्रा का अन्त हो।

श्रुत के पात्र

शब्द कान का विषय है। अतः कान वाला जीव ही शब्द सुन सकता है। सभी प्रकार के शब्द सुनाई नहीं देते हैं। किन्तु कर्ण ग्राह्य (विषय अर्थात् कान के द्वारा ग्रहण होने योग्य) शब्दों को ही जीव सुन सकता है। यदि उसका चित्त सुनने में प्रवृत्त हो तो वह कर्णगोचर शब्दों को अवश्य सुन सकता है, अर्थात् श्रवण करने में प्रवृत्त पंचेन्द्रिय जीव ही शब्दों का श्रोता हो सकता है। हाँ, सुनने में अप्रवृत्त जीव भी शब्द के कर्णगोचर होने पर सुनने के लिए आकर्षित हो सकता है, परन्तु वह भी कान वाला जीव ही होता है। शब्द सुना जाता है और शब्द प्रधान ही श्रुत (ज्ञान या अज्ञान) होता है। अतः सुनकर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। बोलने वाले समस्त जीव सुन नहीं सकते। परन्तु सुनने वाले समस्त जीव प्रायः बोल सकते हैं। मूक पंचेन्द्रिय जीव में भी अस्पष्ट रूप से शब्दों के बोलने की शक्ति तो होती ही है।

जीव की पाँच जातियाँ हैं, जिसमें चार जातियाँ बिना कान वाली हैं, जैसे– एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। पहली जाति में मात्र श्रुत अज्ञान और शेष तीन जातियों में श्रुतज्ञान या श्रुत अज्ञान पाया ही जाता है। यदि श्रुत (ज्ञान या अज्ञान) मात्र शब्द प्रधान ही माना जाये तो उपर्युक्त आगम विधान असत्य हो जाता है, अतः शब्द की गौणता वाला श्रुत भी होता है, यह सिद्ध होता है। क्योंकि शब्दों के सिवाय इंगित, लिंग आदि से भी पदार्थ बोध गृहीत होता है और संकेत आदि तो अन्य इन्द्रियों से भी ग्रहण किये जाते हैं। अतः संकेत आदि से वाचक और वाच्य के सम्बन्ध से युक्त होने वाला बोध श्रोत्रविहीन जातियों में पाया जाता है। वही दूसरे प्रकार का श्रुत है। वस्तुतः सुना जाये वह श्रुत है। श्रुत

की परिभाषा पंचेन्द्रिय जाति के जीवों की अपेक्षा से ही कही गई है और शब्दार्थ प्रधान है, रूढ़ार्थ को व्यक्त नहीं करती।

श्रुत पाँचों ही जीव जातियों में पाया जाता है। परन्तु श्रुत का आदान-प्रदान सर्वत्र नहीं है। पंचेन्द्रिय जाति के जीव ही कर्णेन्द्रिय वाले हैं। अतः उन्हीं में श्रुत के दान-ग्रहण का व्यवहार है। क्योंकि शब्द के ग्रहण के बिना श्रुत का दान या ग्रहण नहीं हो सकता। दान-ग्रहण व्यापार अर्थात् विधिवत् सूत्र का अध्ययन करना और कराना, पंचेन्द्रिय जीवों में भी मन वाले जीवों में ही श्रुत के दान एवं ग्रहण की विधि हो सकती है।

पंचेन्द्रिय जाति में नरक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और देव इन चारों ही प्रकार के जीवों का समावेश होता है। मनुष्य गति में ही श्रुत अभ्यास की पद्धति का अस्तित्व है, शेष जीवों में नहीं। नरक और तिर्यंच अवस्था में जीवों की परवशता है। अतः वहाँ पठन-पाठन की विधि नहीं हो सकती। देव विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न होते हैं। परन्तु उनमें भी श्रुत अभ्यास का विशेष अवकाश नहीं है, क्योंकि उनकी योनि भोग-प्रधान है। अन्य भवों में, मनुष्य-भव में अर्जित श्रुत ही कुछ अवशिष्ट रह सकता है। इसलिए मनुष्य ही श्रुतज्ञान के अभ्यास का वास्तविक पात्र है और इसी दृष्टि से मनुष्यों को श्रुतज्ञान के अभ्यास की प्रेरणा दी गई है। मनुष्य का अधिकांश व्यवहार शब्द प्रमाण पर आधारित है। यदि मनुष्य को वाणी-व्यवहार उपलब्ध नहीं होता तो उसकी स्थिति पशु तुल्य ही रहती। मनुष्य के विकास में प्रत्येक क्षेत्र में शब्दों और शब्दों से निर्मित श्रुत का बहुत बड़ा हाथ है। श्रुत की विशिष्टता के कारण ही मनुष्य का अन्य जीवों से विशिष्ट स्थान है।

श्रुत की प्रधानता

ग्रन्थारूढ़ श्रुत दीर्घकाल पर्यंत स्थित रह सकता है। शास्त्र पद्धति से सुरक्षित ज्ञान प्रत्येक क्षेत्र में विकास के सोपान का निर्माण करता है। ग्रन्थ में संरक्षित ज्ञान का ही पठन-पाठन हो सकता है। अतीत भावों को सर्वज्ञ के समान बताने वाला, वर्तमान उपलब्धि को प्रसारित करने वाला और अनागत ज्ञान को आधार प्रदान करने वाला शास्त्र निहित श्रुत है।

शास्त्रों में त्रैकालिक ज्ञान किस प्रकार संगृहीत होता है, इस बात का स्पष्टीकरण यहाँ पर किया जा रहा है। गत काल के प्रयोगों के तथ्य, घटनाओं के सत्य, आचरित पथ्यापथ्य, स्खलनाओं के द्वारा प्राप्त दण्ड आदि को स्मृति में रखने

में सहायक ग्रन्थ ही होते हैं। विज्ञानादि क्षेत्रों में वर्तमान काल में होने वाली क्रियाओं को जाँचने, परखने और परिमार्जित का अवसर ग्रन्थ निबद्ध श्रुत से प्राप्त हो सकता है और उन क्रियाओं के निष्कर्षों को सुरक्षित रखने के लिए उन्हें ग्रन्थारूढ़ किया जा सकता है। भूतकाल और वर्तमानकाल का शास्त्र-संचित ज्ञान अपने में भविष्यकाल के लिए निर्देश सुरक्षित रखता ही है।

चार पुरुषार्थों की रचना

चारों ही पुरुषार्थों के विषय में अनेकानेक ग्रन्थों की रचनाएँ हुई हैं और हो रही हैं। सम्प्रति मानव-मन विकारों को उत्तेजित करने वाले साहित्य की विपुलता हो रही है। ग्रन्थ-वाचन के नाम पर जनमानस विकार-वर्द्धक साहित्य की ओर प्रायः उदासीनता दिखाई दे रही है। श्रुत-वाचन में विवेक रखना आवश्यक है। यहाँ पर प्रधान श्रुत का निर्देश किया गया है। चारों पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ प्रधान है। अतः मोक्ष पुरुषार्थ विषयक श्रुत ही प्रधान श्रुत है। मोक्ष पुरुषार्थ से सम्बन्धित श्रुत भी अनेक प्रकार का है। अतः उन सबसे पृथक् रूप से जतलाने 'जिनागम' शब्द का निर्देश किया गया है अर्थात् 'जिनागम' ही प्रधान श्रुत है और उसी श्रुत से यहाँ पर सम्बन्ध है। 'जिनागम' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट श्रुत ही है। अन्य श्रुत और जिनागम के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर दो उदाहरण हैं, जैसे–पत्ते और नाव की उपमा दी गई है।

पत्ते की उपमा–अगर कोई व्यक्ति पत्ते की नौका बनाकर या पत्ते से ही नदिया पार करना चाहे तो नहीं कर सकता, बल्कि वह बीच मझधार में ही डूब जायेगा। वह किसी भी सुरक्षित स्थान में पहुँच नहीं सकता।

नाव की उपमा–नाव व्यक्ति को गन्तव्य स्थान पर सुरक्षित पहुँचा देती है। इसी प्रकार भव प्रवाह में अन्य श्रुत की स्थिति पत्ते के समान है और 'जिनागम' श्रुत नाव के समान है।

मिथ्या श्रुत

जिस श्रुत में मनुष्यों को मोक्ष पुरुषार्थ में लगाने की सामर्थ्य नहीं है और जो अनाप्त पुरुषों से कथित है, वह मिथ्या श्रुत है। ऐसा श्रुत मनुष्यों की वासनाओं को उबारता है, मूढ़ मान्यताओं को रूढ़ करता है और विवेक बुद्धि को विकल बना देता है। जैसे जल प्रवाह में गिराया गया काठ प्रवाह में बहता रहता है, वैसे ही मिथ्या श्रुत भी मनुष्यों को विषयों में, मिथ्या मान्यताओं में बहा ले जाता है।

मिथ्या श्रुत जीव की समस्त उदात्त शक्तियों का तिरस्कार कर डालता है, उसके परमात्म-स्वरूप का अपमान कर डालता है। अतः जीव बार-बार दुःखी होते हैं, भव-भ्रमण में चक्कर लगाते हैं।

सम्यक् श्रुत

जिनागम, अर्थात् राग-द्वेष के विजेता के द्वारा कहे गये शास्त्र। राग-द्वेष से रहित उपदेष्टा ही आप्त हैं। ऐसे आप्त से उपदिष्ट होने के कारण ही जिनागम सम्यक् श्रुत है। जिनागम विषय प्रवाह में डुबाता नहीं है, बहाता भी नहीं है। परन्तु उनसे पार होने की शक्ति प्रदान करता है। जिनागम जीवों को सदैव ध्रुव लक्ष्य की ओर प्रेरित करता है और संसार के नश्वर पदार्थों के नग्न स्वरूप को दर्शाता है। वह जीवों के प्रशस्त भावों की पूर्णतः रक्षा करता है, उन्हें बढ़ाता है। लोक और अलोक का व्यवस्थित और यथार्थ निरूपण सम्यक् श्रुत है। साध्य (अरिहन्त, सिद्ध), साधक (आचार्य, उपाध्याय और साधु), साधन (केवलि-प्रज्ञप्त या स्वाख्यात धर्म) के स्वरूप को हृदय में प्रतिष्ठित करने वाला सम्यक् श्रुत है।

सम्यक् श्रुत के दाता गुरु

आँखों में ज्योति होते हुए भी व्यक्ति दीपक या अन्य प्रकाश के साधन के अभाव में अँधेरे में नहीं देख सकता है। वैसे ही अत्यधिक बुद्धिमान् होते हुए भी जिज्ञासु व्यक्ति गुरु की शिक्षा के अभाव में किसी भी विषय के शास्त्रज्ञान में पारंगत नहीं हो सकता है। विद्वान् भी अपने गुरुओं से शिक्षित होते हैं। अतः पूर्वागत और अपने गुरु के चिन्तन से प्रसूत ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए गुरु के अभाव में काफी लम्बा समय लग सकता है। फिर भी वैसा असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त न हो सके यह सम्भव है। अतः सर्वत्र ज्ञाता का प्रामाणिक महत्त्व है। सम्यक् श्रुत के दाता वास्तव में गुरु ही होते हैं। सम्यक् श्रुत प्रामाणिक ज्ञाता गुरु से ही उपलब्ध हो सकता है।

शास्त्र का सीधा सम्बन्ध आत्मा से होता है, आत्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वरूप आलोक को व्यक्त करना एवं आत्म-स्वरूप पर छाई हुई विभाव परिणतियों की मलिनता का निवारण करना ही शास्त्र का मुख्य हेतु होता है। आगमवेत्ता आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण से शास्त्र का अर्थ पूछा गया तो उन्होंने बताया—

"सासिज्जइ तेण तहिं वा नेयमाया व तो सत्थं।"

'विशेषावश्यक भाष्य' गाथा १३८४ में कहा है-जिसके द्वारा यथार्थ सत्यरूप ज्ञेय का, आत्मा का प्रबोध हो एवं आत्मा अनुशासित हो, वह शास्त्र है। शास्त्र के इस अर्थ में शास्त्र का स्वरूप और उद्देश्य दोनों गर्भित हैं। यही बात 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताई गई है-

"जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं।"

-जिसे सुनकर जीव तप, क्षमा और अहिंसा आदि गुणों को प्राप्त करता है, वह शास्त्र है।

तो इस प्रकार के आत्म-ज्ञानवर्द्धक शास्त्र का श्रवण कर पाना भी मनुष्य-जन्म की सफलता का कारण है। जिस शास्त्र को सुनकर मन के विकार शान्त हो जाते हैं। जिस वाणी के प्रभाव से मन के मलिन विचार धुल जाते हैं और पवित्र भावों का, वैराग्य और विवेक का प्रकाश जगमगाने लगता है। ऐसे आगम या जिन प्ररूपित धर्मशास्त्र का सुन पाना भी मनुष्य के पूर्व पुण्यों का फल है।

उपसंहार

इस प्रकार आचार्य श्री सोमप्रभसूरि जी ने मानव-जीवन को सफल बनाने वाले छह कार्यों का निर्देश किया है। इन छह कार्यों का पालन करने वाला, इनमें सत्पुरुषार्थ करने वाला अपने मनुष्य-जीवन को सफल बना सकता है और वह मानव महामानव बनकर एक दिन परम सुखों को भी प्राप्त कर लेता है। ● ●